

ISSN 0972-1002

# श्रमण ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIII

No. III

July-September 2012



*Cadanā giving alms to Mahāvīra*



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Established : 1937

# श्रमण

## ŚRAMAᅇA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIII

No. III

July-September 2012

*Joint Editor*

**Dr. Shriprakash Pandey**



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

**(Established: 1937)**

*(Recognized by Banaras Hindu University  
as an External Research Centre)*

## ADVISORY BOARD

**Dr. Shugan C. Jain**

Chairman, New Delhi

**Prof. Cromwell Crawford**

Univ. of Hawaii

**Prof. Anne Vallely**

Univ. of Ottawa, Canada

**Prof. Peter Flugel**

SOAS, London

**Prof. Christopher Key Chapple**

Univ. of Loyola, USA

**Prof. Ramjee Singh**

Bheekhampur, Bhagalpur

**Prof. Sagarmal Jain**

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

**Prof. K.C. Sogani**

Chittaranjan Marg, Jaipur

**Prof. D.N. Bhargava**

Bani Park, Jaipur

**Prof. Prakash C. Jain**

JNU, Delhi

## EDITORIAL BOARD

**Prof. M.N.P. Tiwari**

B.H.U., Varanasi

**Prof. K. K. Jain**

B.H.U., Varanasi

**Dr. A.P. Singh, Ballia**

**Prof. Gary L. Francione**

New York, USA

**Prof. Viney Jain,**

Gurgaon

**Prof. S. L. Jain, Varanasi**

ISSN: 0972-1002

## SUBSCRIPTION

### *Annual Membership*

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30

### *Life Membership*

For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

**Membership fee & articles** can be sent in favour of Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

### ***PUBLISHED BY***

**Shri Indrabhooti Barar**, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005, Ph. 0542-2575890

### **Email:**

pvpvaranasi@gmail.com

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

**Theme of the Cover : Candanabālā-Mahāvira Episode**

**Printed by-** Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

## Contents

सम्पादकीय	v
श्रमण के यशस्वी लेखक	vi-viii
1. अर्धमागधी आगम-साहित्य में अस्तिकाय डॉ. धर्मचन्द्र जैन	1-11
2. जैन चिन्तन में धर्म का स्वरूप एवं माहात्म्य डॉ. अशोक कुमार जैन	12-18
5. प्राकृतकथा वाङ्मय में निहित वैश्विक संदेश डॉ. रजनीश शुक्ल	19-30
4. ŚRĪMAD BHAGAVADGĪTĀ: A JAIN PERSPECTIVE T. U. Mehta	31-39
5. DISCUSSION ON FREUDIAN AND JAIN CONCEPT OF DREAM Dr. Samani Ramaniya Pragya	40-58
6. AṆUVRATA : A SOLUTION FOR WORLD PEACE Dr. Navin Kumar Srivastav	59-68
स्थायी स्तम्भ	
पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार	69-72
जैन जगत्	73
साहित्य-सत्कार	74-78



## Our Contributors

### **Prof. Dharmachand Jain**

Department of Sanskrit  
Jai Narayan Vyas University  
Jodhpur (Rajasthan)

### **Dr. Ashok Kumar Jain** (Associate Professor)

Department of Jaina Evam Bauddha Darshan  
Sanskrit Vidya Dharma Vigyan Sankay  
Banaras Hindu University, Varanasi-5

### **Dr. Rajneesh Shukla**

Development Officer  
Rashtriya Sanskrit Sansthan  
New Delhi

### **T.U. Mehta**

Former Chief Justice, High Court of H.P., Shimla.  
"Siddharth", 3, Dada Rokadnath Soc. Narayannagar, Paldi,  
Ahmedabad- 380007

### **Dr. Samani Ramaniya Pragya**

Asst. Professor,  
Dept. of Jainology  
Jaina Vishva Bharati University, Ladnun

### **Dr. Navin Kumar Srivastav**

Reserach Associate  
Parshwanath Vidyapeeth  
Varanasi-5

### From Chairman's desk

The cover picture of this issue depicts "The Candanabālā-Mahāvīra Episode" showing Chandanabālā, as a prisoner of Merchant Dhanavāha's wife Molā, offering alms to Lord Mahāvīra.

The episode is based on Lord Mahāvīra's a secret resolution (Abhigraha) to accept the food only from a slave girl imprisoned and in destitute state. Lord went for many days without food as He could not find such a woman offering food. Finally He saw Chandanabālā and accepted food from her. This secret resolution of Lord Mahāvīra was perhaps to highlight and eliminate the bad social practice of selling girls as slaves (dāsī). After Lord Mahāvīra attained omniscience, He named Candanabālā as the head of female-monks of His four fold congregation.

#### About this edition

I regret delay in publishing this issue of *Śramaṇa* due to some internal reorganizations and special assignments to Vidhyapeeth staff. This issue of *Śramaṇa* journal also is one month late due to engagement of the staff. In this issue, a special mention is to be made of the note prepared by Dr. Ashok Kumar Singh highlighting the contributions of various scholars to the success story of *Śramaṇa* so far. To further enhance the utility of *Śramaṇa*, we have planned to bring out four issues of *Śramaṇa* in 2013, each dedicated to a specific area of academic interest. The request note is attached at the end of the journal. I encourage the respected scholars to take advantage of this invitation and send their papers as early as possible.

Again I request you to please do send your comments on various papers presented in this use as well as suggestions to improve the quality of this journal.

**Shugan C. Jain**  
**Chairman, Advisory Board, Śramaṇa**

## श्रमण के यशस्वी लेखक

वर्तमान वर्ष जैन विद्या के शोध एवं प्रकाशन के क्षेत्र में अग्रणी संस्थान पार्श्वनाथ विद्यापीठ का कौस्तुभ जयन्ती वर्ष (1937-2012) है। स्थापना के आरम्भ से ही पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संस्थापकों का उद्देश्य प्राकृत, जैन एवं तुलनात्मक विद्या के क्षेत्र में उच्चस्तरीय शोधकार्य, शोधग्रन्थों एवं मूलग्रन्थों के प्रकाशन के साथ ही इस क्षेत्र में कार्य करने हेतु गम्भीर अध्येताओं को तैयार करना था। इसके प्रबन्धन से जुड़े लोगों की लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठता, समर्पण, उदारता, जैनविद्या की निःस्वार्थ सेवा की भावना एवं गौरवबोध इस संस्था की महान पूँजी रही है।

विद्यापीठ की कौस्तुभ जयन्ती वर्ष के साथ ही इसका प्रतिष्ठापरक उपक्रम त्रैमासिक शोध पत्रिका श्रमण अपने प्रकाशन के 63वें वर्ष (सन् 1949 से आरम्भ) में प्रवेश कर चुकी है अर्थात् श्रमण भी अपनी विकास यात्रा की हीरक जयन्ती तीन वर्ष पूर्व (सन् 2009 ई.) पूर्ण कर चुका है। श्रमण की इस प्रकाशन-यात्रा को निर्बाध रूप से गतिमान रखने एवं इसे जैन विद्या की शीर्ष शोध-पत्रिकाओं में स्थान दिलाने में विद्वज्जगत् का योगदान सर्वथा सराहनीय रहा है। अपने प्रकाशन के आरम्भिक वर्षों में ही श्रमण द्वारा समाज के विभिन्न क्षेत्रों से देश की महान् हस्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेना पार्श्वनाथ विद्यापीठ के तत्कालीन प्रबन्धन एवं अकादमीय गतिविधियों से जुड़े लोगों की उच्च एवं व्यापक स्तर पर स्वीकार्यता का सबल प्रमाण है।

सन् 1949 से आज तक श्रमण को अपनी लेखनी से महनीयता प्रदान करने वाले लेखकों पर दृष्टि डालना पार्श्वनाथ विद्यापीठ से किसी भी रूप में सम्बद्ध लोगों के लिए हर्षमिश्रित गौरवानुभूति का क्षण प्रदान करता है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि श्रमण के यशस्वी लेखकों की सूची में सम्मिलित हैं-

भारत के प्रथम राष्ट्रपति महामहिम डॉ. राजेन्द्र प्रसाद-

'सेवाग्राम कुटीर का सन्देश', वर्ष 1, अंक 4, सन् 1950, पृष्ठ 36-38, मंगल प्रवचन, वर्ष 9, अंक 2, सन् 1957, पृष्ठ 3-9

vii : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

भारत के द्वितीय राष्ट्रपति महामहिम डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् -  
'कर्तव्यबोध', वर्ष 11, अंक 11, सन् 1960, पृष्ठ 7-8, 'जीवितधर्म' वर्ष 8,  
अंक 10, सन् 1957, पृष्ठ. 34।

भारत के पांचवें प्रधानमन्त्री स्व. श्री मोरारजी देसाई-

'सब जीवों को समान समझें' वर्ष 9, अंक 2, सन् 1957, पृष्ठ31-33,

उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री (1954-1960) डॉ. सम्पूर्णानन्द-

'निरामिष भोजन एक समस्या' वर्ष 9, अंक 3, सन् 1958, पृष्ठ 28-33।

देश के महान् सन्त आचार्य विनोबा भावे (7 लेख) प्रकाशित

प्रथम श्रमणसंघीय आचार्य पू. आत्मारामजी (8 लेख) प्रकाशित

इसके अतिरिक्त निम्न आचार्यों, स्वतन्त्रता सेनानियों, समाज-सेवियों, दार्शनिकों,  
साहित्यकारों तथा जैन विद्वानों के लेख भी श्रमण में प्रकाशित हैं-

आचार्य-

द्वितीय श्रमणसंघीय आचार्य पू. आनन्द ऋषिजी, तृतीय श्रमणसंघीय आचार्य

पू. देवेन्द्र मुनिजी, वर्तमान चतुर्थ श्रमणसंघीय आचार्य पू. डॉ. शिवमुनिजी,

दिगम्बर आचार्य पू. विद्यानन्दजी, मुनिश्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री

जम्बूविजयजी, आचार्य महाप्रज्ञ, डॉ. नगराजजी डी. लिट्, पूज्य ज्ञानमुनि

जी, पूज्य मधुकर मुनि जी, पू. मुनिश्री सुशील कुमार, आचार्य डॉ.

रजनीश, मुनि महेन्द्र कुमार 'प्रथम', मुनि महेन्द्र कुमार 'द्वितीय' आदि।

स्वतन्त्रता सेनानी एवं समाजसेवी-

महान् गान्धीवादी एवं स्वतन्त्रता सेनानी दादा धर्माधिकारी, महान् सर्वोदयी नेता

सिद्धराज ढड्डा, साहू शान्ति प्रसाद जैन, लाला श्रीहरजसराय जैन, श्री

शादीलाल जैन आदि।

दार्शनिक-

महान् दार्शनिकों में बर्ट्रेण्ड रसेल (अतीत धर्म और साधुसंस्था),

श्री अरविन्द, डॉ. एन. के. देवराज।

साहित्यकार-

महान् बौद्ध विद्वानों में भदन्त आनन्द कौसल्यायन, भिक्षु धर्मरक्षित, भिक्षु

जगदीश काश्यप, डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, डॉ. सी. एस. उपासक,

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, पी. एल वैद्य, देश के महान् साहित्यकारों एवं



आलोचकों में काका कालेलकर, राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार, डॉ. राम कुमार वर्मा, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा एवं डॉ. नामवर सिंह।

दिवंगत जैन विद्वान्-

महान् दिवंगत जैन विद्वानों की श्रृंखला में आदरणीय जुगल किशोर 'मुख्तार', पं. सुखलाल संघवी, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, डॉ. दरबारी लाल कोठिया, पं. बेचरदास दोशी, पं. अगरचन्द नाहटा, पं. महेन्द्र कुमार 'न्यायाचार्य', पद्मभूषण पं. दलसुख मालवणिया, श्री भंवरलाल नाहटा, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, प्रो. गुलाब चन्द्र चौधरी, प्रो. हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी, डॉ. नथमल टाटिया, डॉ. मोहनलाल मेहता, डॉ. के. आर. चन्द्रा, आदि।

वर्तमान जैन विद्वान्-

वर्तमान शीर्षस्थ विद्वानों में प्रो. पद्मनाभ एस. जैनी, प्रो. रामजी सिंह, प्रो. सागरमल जैन, प्रो. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', प्रो. गोकुल चन्द्र जैन, डॉ. राजाराम जैन, प्रो. सुरेश चन्द्र पाण्डे, प्रो. सत्यपाल नारंग, प्रो. प्रेमसुमन जैन आदि विद्वानों के लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं कि किन-किन विद्वानों द्वारा श्रमण में अधिक संख्या में लेख लिखे गये तो सर्वप्रथम हमारे समक्ष स्वर्गीय अगरचन्द्र नाहटा का नाम आता है जिनके 141 लेख श्रमण में प्रकाशित हैं। शताधिक लेख प्रकाशित करने वाले दूसरे विद्वान् हैं प्रोफेसर सागरमल जैन । स्व. डॉ. मोहन लाल मेहता के भी लगभग 80 लेख श्रमण में प्रकाशित हो चुके हैं। अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. देवेन्द्र शास्त्री के 76 लेख अब तक श्रमण में प्रकाशित हो चुके हैं।

इसप्रकार श्रमण में समकालीन महान् पुरुषों एवं विद्वानों के लेख प्रकाशित होना इसके उच्च स्तर का सशक्त प्रमाण है।

डॉ. अशोक कुमार सिंह

## अर्द्धमागधी आगम-साहित्य में अस्तिकाय

डॉ. धर्मचन्द जैन

अस्तिकाय जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है जिससे भूत, वर्तमान एवं भविष्यत तीनों में रहने वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। अस्तिकाय के आधार पर द्रव्य का एक विशेष वर्गीकरण जैन दर्शन में सम्प्राप्त होता है जो जैनों का अपना वैशिष्ट्य है। इस वर्गीकरण के अनुसार जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल को अस्तिकाय तथा काल द्रव्य को अनस्तिकाय माना गया है। इस तरह का कोई वर्गीकरण अन्य दर्शनों में नहीं पाया जाता। उदाहरण के लिये आकाश को द्रव्य सभी दर्शनों ने माना है किन्तु उसका लोकाकाश एवं अलोकाकाश के रूप में विभाजन अन्यत्र नहीं मिलता। डॉ. जैन ने प्रस्तुत लेख में अस्तिकाय द्रव्य का सूक्ष्म विवेचन करते हुए अस्तिकाय का द्रव्य से भेद भी दिखाया है और बताया है कि अस्तिकाय द्रव्य तो है किन्तु जो जीव द्रव्य है वह अस्तिकाय भी हो यह आवश्यक नहीं है। -सम्पादक

### अस्तिकाय

'अस्तिकाय' जैन दर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है, जो लोक या जगत् के स्वरूप का निर्धारण करता है। अस्तिकाय का निरूपण एवं विवेचन शौरसेनी, अर्द्धमागधी एवं संस्कृत भाषा में रचित आगम-ग्रन्थों, सूत्रों, टीकाओं एवं प्रकरण ग्रन्थों में विस्तार से समुपलब्ध है, किन्तु प्रस्तुत लेख में अर्द्धमागधी आगमों में निरूपित पंचास्तिकाय पर विचार करना ही समभिप्रेत है। अर्द्धमागधी भाषा में निबद्ध आगम श्वेताम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दिगम्बर परम्परा इन्हें मान्य नहीं करती। उनके षट्खण्डागम, कसायपाहुड, समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह आदि ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। अर्द्धमागधी आगमों में मुख्यतः व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, जीवाजीवाभिगमसूत्र, समवायांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में पंचास्तिकाय एवं षड् - द्रव्यों का निरूपण सम्प्राप्त होता है। इसिभासियाई ग्रन्थ भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

2 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 3 / जुलाई-सितम्बर 2012

अस्तिकाय पाँच हैं - 1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. जीवास्तिकाय और 5. पुद्गलास्तिकाय। द्रव्य को 6 प्रकार का प्रतिपादित करते समय अद्वासमय (काल) को भी पंचास्तिकाय के साथ जोड़कर निरूपित किया जाता है।<sup>1</sup> अस्तिकाय एवं द्रव्य दो भिन्न शब्द हैं, अतः इनके अर्थ में भी कुछ भेद होना चाहिए। अस्तिकाय द्रव्य हैं, किन्तु द्रव्यमात्र अस्तिकाय नहीं है।

‘अस्तिकाय’ (अत्थिकाय) शब्द का विवेचन करते हुए आगम टीकाकार अभयदेव सूरि ने कहा है- अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना। अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशयः इति- अस्तिकायाः। ‘अस्ति’ शब्द त्रिकाल का वाचक निपात है, अर्थात् ‘अस्ति’ से भूतकाल, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों में रहने वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। ‘काय’ शब्द राशि या समूह का वाचक है। जो काय अर्थात् राशि तीनों कालों में रहे, वह अस्तिकाय है। अस्तिकाय की एक अन्य व्युत्पत्ति में अस्ति का अर्थ प्रदेश करते हुए प्रदेशों की राशि या प्रदेश समूह को अस्तिकाय कहा गया है - अस्तिशब्देन प्रदेशप्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः। इस अस्तिकाय के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या हो जाती है। ‘अस्तिकाय’ को व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के आधार पर अधिक स्पष्टरूपेण समझा जा सकता है। वहाँ पर तीर्थंकर महावीर से उनके प्रमुख शिष्य गौतम गणधर ने जो संवाद किया, वह इस प्रकार है<sup>4</sup> -

प्रश्न- भते! क्या धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को ‘धर्मास्तिकाय’ कहा जा सकता है?

उत्तर- गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात् धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता)

प्रश्न- भते! क्या धर्मास्तिकाय के दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दस, संख्यात और असंख्यात प्रदेशों को ‘धर्मास्तिकाय’ कहा जा सकता है?

उत्तर- गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न- भते! एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय को क्या ‘धर्मास्तिकाय’ कहा जा सकता है?

उत्तर- गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न- भते! किस कारण से ऐसा कहा जाता है?

उत्तर- गौतम! जिस प्रकार चक्र के खण्ड को चक्र नहीं कहते, किन्तु सम्पूर्ण को चक्र कहते हैं, इसी प्रकार गौतम! धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता है; यावत् एक प्रदेश न्यून तक को भी धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न- भंते! फिर धर्मास्तिकाय किसे कहा जा सकता है?

उत्तर- गौतम! धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं, जब वे कृत्स्न, परिपूर्ण, निरवशेष एक के ग्रहण से सब ग्रहण हो जाएँ, तब गौतम! उसे धर्मास्तिकाय कहा जाता है।

धर्मास्तिकाय की भाँति व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का भी अखण्ड स्वरूप में अस्तिकायत्व स्वीकार किया गया है। यह अवश्य है कि जहाँ धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं, वहाँ आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय के अनन्त प्रदेश हैं।<sup>1</sup> इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार धर्मास्तिकाय के अन्तर्गत निरवशेष असंख्यात प्रदेशों का ग्रहण होता है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय आदि के भी अपने समस्त प्रदेशों का उस अस्तिकाय में ग्रहण होता है। एक प्रदेश भी न्यून होने पर उसे तत् अस्तिकाय नहीं कहा जाता।

### अस्तिकाय का द्रव्य से भेद

अस्तिकाय का द्रव्य से यही भेद है कि अस्तिकाय में जहाँ धर्मास्तिकाय आदि के अखण्ड निरवशेष स्वरूप का ग्रहण होता है, वहाँ धर्मद्रव्य आदि में उसके अंश का भी ग्रहण हो जाता है। परमार्थतः धर्मास्तिकाय अखण्ड द्रव्य है, उसके अंश नहीं होते हैं। इसे समझने के लिए पुद्गलास्तिकाय का उदाहरण अधिक उपयुक्त है। जब समस्त पुद्गल द्रव्यों का अखण्डरूप से ग्रहण किया जाएगा तब वह पुद्गलास्तिकाय कहलायेगा तथा टेबल, कुर्सी, पेन, पुस्तक, मकान आदि पुद्गल द्रव्य कहलायेंगे, पुद्गलास्तिकाय नहीं। टेबल आदि पुद्गल तो हैं, किन्तु पुद्गलास्तिकाय नहीं। क्योंकि इनमें समस्त पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता है। अतः टेबल, कुर्सी आदि को पुद्गल द्रव्य कहना उपयुक्त है। इसी प्रकार जीवास्तिकाय में समस्त जीवों का ग्रहण हो जाता है, उसमें कोई भी जीव छूटा नहीं है, जबकि अलग-अलग, एक-एक जीव भी जीवद्रव्य कहे जा सकते हैं। यह अस्तिकाय एवं द्रव्य का सूक्ष्म भेद आगमों में सन्निहित है। काल को द्रव्य तो स्वीकार किया गया है, किन्तु उसका कोई अखण्ड स्वरूप नहीं



है, उसमें प्रदेशों का प्रचय भी नहीं है, अतः वह अस्तिकाय नहीं है।

‘द्रव्य’ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा जाता है - द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यम्। जो प्रतिक्षण विभिन्न पर्यायों को प्राप्त होता है वह द्रव्य है। अस्तिकाय पाँच ही हैं, जबकि द्रव्य छह हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति के द्वितीय शतक में पाँचों अस्तिकाय का पाँच द्वारों से वर्णन किया गया है - द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से।<sup>6</sup> द्रव्य से वर्णन करते हुए धर्मास्तिकाय को एक द्रव्य, अधर्मास्तिकाय को एक द्रव्य, आकाशास्तिकाय को एक द्रव्य तथा जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय को क्रमशः अनन्त जीवद्रव्य एवं अनन्त पुद्गल द्रव्य प्रतिपादित किया गया है। इसका तात्पर्य है कि ‘अस्तिकाय’ जहाँ तीनों कालों में रहने वाली अखण्ड प्रचयात्मक राशि का बोधक है, वहाँ द्रव्य शब्द के द्वारा उस अस्तिकाय के खण्डों का भी ग्रहण हो जाता है। इनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय तो अखण्ड ही रहते हैं, उनके कल्पित खण्ड ही हो सकते हैं, वास्तविक नहीं, जबकि जीवास्तिकाय में अनन्त जीवद्रव्य और पुद्गलास्तिकाय में अनन्त पुद्गलद्रव्य अपने अस्तिकाय के खण्ड होकर भी अपने आप में स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में रहते हैं। नाम से वे सभी जीव जीवद्रव्य एवं सभी पुद्गल पुद्गलद्रव्य कहे जाते हैं।

अनुयोगद्वारसूत्र में द्रव्य नाम छह प्रकार का प्रतिपादित है- 1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. जीवास्तिकाय, 5. पुद्गलास्तिकाय और 6. अद्वासमय (काल)।<sup>7</sup>

पुद्गलास्तिकाय के एक प्रदेश अर्थात् परमाणु को कथंचित् द्रव्य, कथंचित् द्रव्यदेश कहा गया है। इसी प्रकार दो प्रदेशों को कथंचित् द्रव्य, कथंचित् द्रव्यदेश, कथंचित् अनेक द्रव्य और अनेक द्रव्यदेश कहा गया है। इसी प्रकार तीन, चार, पाँच, यावत् असंख्यात एवं अनन्त प्रदेशों के संबंध में कथन करते हुए उन्हें एक द्रव्य एवं द्रव्यदेश, अनेक द्रव्य एवं अनेक द्रव्यदेश कहा गया है।<sup>8</sup>

पाँच अस्तिकायों में आकाश सबका आधार है। आकाश ही अन्य अस्तिकायों को स्थान देता है। आकाशास्तिकाय लोक एवं अलोक में व्याप्त है, जबकि अन्य चार अस्तिकाय लोकव्यापी हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय से पूरा लोक स्पष्ट है।<sup>9</sup>

द्रव्य का विभाजन आगमों में षड्द्रव्यों के अतिरिक्त जीव एवं अजीव के रूप में भी किया गया है, यथा-

**कइविहा णं भंते! दव्वा पण्णत्ता?**

**गोयमा दुविहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा- जीवदव्वा य अजीवदव्वा या।<sup>10</sup>**

भगवन्! द्रव्य कितने प्रकार से प्रज्ञप्त हैं?

गौतम! दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं- जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में अजीवद्रव्यों को पुनः रूपी - अजीवद्रव्य एवं अरूपी - अजीवद्रव्य में विभक्त किया गया है।

प्रज्ञापनासूत्र में अरूपी अजीवद्रव्य की 10 पर्याय एवं रूपी - अजीवद्रव्य की 4 पर्याय निरूपित हैं। अरूपी अजीव द्रव्य के 10 पर्याय हैं<sup>11</sup> - 1. धर्मास्तिकाय, 2. धर्मास्तिकाय के देश, 3. धर्मास्तिकाय के प्रदेश, 4. अधर्मास्तिकाय, 5. अधर्मास्तिकाय के देश, 6. अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, 7. आकाशास्तिकाय, 8. आकाशास्तिकाय के देश, 9. आकाशास्तिकाय के प्रदेश और 10. अद्धासमय। अरूपी से तात्पर्य है वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से रहित। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं कालद्रव्य वर्णादि से रहित होने के कारण अरूपी हैं। रूपी द्रव्य एक ही है - पुद्गलास्तिकाय। इसके चार पर्याय हैं - स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु पुद्गल। पुद्गल का स्वतन्त्र खण्ड स्कन्ध, उसका कल्पित अंश देश एवं उसका परमाणु जितना कल्पित अंश प्रदेश कहा जाता है। परमाणु पुद्गल स्वतंत्र है। देश एवं प्रदेश के धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यों में भी कल्पित अंश एवं परमाणु जितने कल्पित अंश ही वाच्य हैं।

रूपी-अजीवद्रव्य की अनन्त पर्यायों का भी प्रतिपादन हुआ है। गौतम गणधर के प्रश्न के उत्तर में प्रज्ञापनासूत्र में भगवान महावीर ने स्पष्ट किया है- गौतम! परमाणु पुद्गल अनन्त हैं, द्विप्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, यावत् दशप्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, संख्यात प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, असंख्यात प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, अनन्त प्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि रूपी-अजीवपर्याय संख्यात और असंख्यात नहीं हैं, किन्तु अनन्त हैं।<sup>12</sup>

जीवद्रव्य की भी अनन्त पर्याय स्वीकृत हैं। इसका कारण प्रतिपादित करते हुए कहा गया है- असंख्यात नैरयिक हैं, असंख्यात असुरकुमार यावत्

असंख्यात स्तनित कुमार हैं, असंख्यात पृथ्वीकायिक हैं, असंख्यात अप्कायिक हैं, असंख्यात तेजस्कायिक हैं, असंख्यात वायुकायिक हैं, अनन्त वनस्पतिकायिक हैं, असंख्यात द्वीन्द्रिय हैं, असंख्यात चतुरिन्द्रिय हैं, असंख्यात पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक हैं, असंख्यात मनुष्य हैं, असंख्यात वाणव्यन्तर हैं, असंख्यात ज्योतिष्क देव हैं, असंख्यात वैमानिक देव हैं, अनन्त सिद्ध हैं। इस प्रकार हे गौतम! जीवपर्याय संख्यात और असंख्यात नहीं, किन्तु अनन्त हैं।<sup>13</sup>

धर्मास्तिकाय गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की गति में सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय स्थिति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहकारी होता है। आकाशास्तिकाय अन्य सभी द्रव्यों/अस्तिकायों को स्थान/अवकाश देता है। जीवास्तिकाय चेतनागुण या उपयोगगुण वाला होता है। पुद्गलास्तिकाय वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श वाला होता है। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप, उद्योत वाले द्रव्य भी पुद्गल होते हैं। काल वर्तना लक्षण वाला है।<sup>14</sup>

इनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय अजीवकाय हैं तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय अरूपीकाय हैं, क्योंकि इनमें वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श नहीं हैं। प्रदेश की अपेक्षा धर्म, अधर्म एवं एक जीव द्रव्य में असंख्यात प्रदेश माने गए हैं तथा आकाश में अनन्त प्रदेश कहे गए हैं। पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी होकर भी अनेक स्कन्ध रूप बहु प्रदेशों को ग्रहण करने की योग्यता रखता है। गुरुलघुत्व की अपेक्षा से पुद्गलास्तिकाय गुरुलघु भी है और अगुरुलघु भी, किन्तु धर्मास्तिकाय आदि शेष चार अगुरुलघु हैं।

षड्द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्य की दृष्टि से तुल्य हैं तथा षड्द्रव्यों में सबसे अल्प हैं। उनसे जीवास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं, उनसे पुद्गलास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं। उनसे अद्भासमय द्रव्य की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं।<sup>15</sup>

संख्या का यह निर्देश इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि अस्तिकाय एवं द्रव्य में भिन्नता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय में द्रव्य एवं अस्तिकाय की दृष्टि से समानता है, क्योंकि वे अस्तिकाय की दृष्टि से भी एक-एक हैं तथा द्रव्य की दृष्टि से भी एक-एक हैं। जीवास्तिकाय को द्रव्य

की दृष्टि से धर्मास्तिकाय की अपेक्षा अनन्तगुणा कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक जीव एक भिन्न द्रव्य है इसलिए उसे अनन्तगुणा कहा गया है। पुद्गलास्तिकाय को तो द्रव्य की दृष्टि से जीव से भी अनन्तगुणा प्रतिपादित किया गया है। इसका कारण परमाणु को भी द्रव्य के रूप में समझना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह फलित होता है कि जात्यपेक्षया तो द्रव्य छह ही हैं, किन्तु व्यक्त्यपेक्षया द्रव्य अनन्त हैं। प्रत्येक वस्तु अपने आप में एक द्रव्य है। जो भी स्वतन्त्र अस्तित्ववान् वस्तु है वह द्रव्य है। इसीलिए द्रव्यापेक्षया जीव भी अनन्त हैं और पुद्गल भी अनन्त। काल को तो पुद्गल की अपेक्षा भी अनन्तगुणा स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि अस्तिकाय एवं द्रव्य का स्वरूप पृथक् है। अस्तिकाय तो द्रव्य है, किन्तु जो द्रव्य है वह अस्तिकाय हो यह आवश्यक नहीं।

धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त द्रव्य आकाश में एक साथ रहते हुए भी एक-दूसरे को बाधित या प्रतिहत नहीं करते। वे किसी न किसी रूप में एक-दूसरे के सहकारी बनते हैं। यथा-धर्मास्तिकाय से जीवों में आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग और काययोग प्रवृत्त होते हैं। अधर्मास्तिकाय से जीवों में स्थित होना, बैठना, मन की एकाग्रता आदि कार्य होते हैं। आकाशास्तिकाय जीव एवं अजीव द्रव्य का भाजन या आश्रय है। एक या दो परमाणुओं से व्याप्त आकाश प्रदेश में सौ परमाणु भी समा सकते हैं तथा सौ परमाणुओं से व्याप्त आकाश प्रदेश में सौ करोड़ परमाणु भी समा सकते हैं। जीवास्तिकाय से जीवों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन की अनन्त पर्यायों के उपयोग की प्राप्ति होती है। पुद्गलास्तिकाय से जीवों को औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस व कर्मण शरीर, श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ, मनोयोग, वचनयोग, काययोग और श्वासोच्छ्वास को ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है।<sup>16</sup>

भगवतीसूत्र के बीसवें शतक में धर्मास्तिकाय आदि के अनेक अभिवचन (पर्यायवाची शब्द) दिए गए हैं, जिनसे इनका विशिष्ट स्वरूप प्रकाश में आता है। उदाहरणार्थ धर्मास्तिकाय के अभिवचन हैं- धर्म या धर्मास्तिकाय, प्राणातिपात-विरमण यावत् परिग्रह-विरमण, क्रोध-विवेक यावत् मिथ्या दर्शनशाल्य-विवेक, ईर्या समिति यावत् उच्चार-प्रस्रवण खेल-जल्ल-सिंघाण परिष्ठापनिका समिति, मनोगुप्ति यावत् कायगुप्ति। धर्मास्तिकाय के ये अभिवचन



उसे धर्म के निकट ले आते हैं। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के अधर्म, प्राणातिपात अविरमण यावत् परिग्रह-अविरमण, क्रोध-अविवेक यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-अविवेक आदि अभिवचन अधर्मास्तिकाय को अधर्म या पाप के निकट ले आते हैं। आकाशास्तिकाय के गगन, नभ, सम, विषम आदि अनेक अभिवचन हैं। जीवास्तिकाय के अभिवचनों में जीव, प्राण, भूत, सत्व, चेत, आत्मा आदि के साथ पुद्गल को भी लिया गया है, जो यह सिद्ध करता है कि पुद्गल शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में जीव के लिए भी होता रहा है। पुद्गलास्तिकाय के अनेक अभिवचन हैं, यथा-पुद्गल, परमाणु-पुद्गल, द्विप्रदेशी यावत् संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी आदि।<sup>17</sup>

### काल की द्रव्यता

पंचास्तिकाय के अतिरिक्त काल को द्रव्य मानने के संबंध में जैनाचार्यों में मतभेद रहा है। इस मतभेद का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने 'कालश्चेत्येके' सूत्र के द्वारा किया है। आगम में भी दोनों प्रकार की मान्यता के बीज उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ भगवान महावीर से प्रश्न किया गया - किमिदं भंते! काले त्ति पवुच्चति? भगवन्! काल किसे कहा गया है? भगवान् ने उत्तर दिया - जीवा चैव अजीवा चैव त्ति। अर्थात् काल को जीव और अजीव कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि काल जीव और अजीव का पर्याय ही है, भिन्न द्रव्य नहीं। यह कथन एक अपेक्षा से समीचीन है। 'लोकप्रकाश' नामक ग्रन्थ में उपाध्याय विनयविजय ने इस आगमवाक्य के आधार पर तर्क उपस्थित किया है कि वर्तना आदि पर्यायों को यदि द्रव्य माना गया तो अनवस्था दोष आ जायेगा। पर्यायरूप काल पृथक् द्रव्य नहीं बन सकता है।<sup>18</sup> आगम में क्योंकि 'अद्धासमय' के रूप में काल द्रव्य का विवेचन प्राप्त होता है, अतः लोकप्रकाश में एतदर्थ तर्क उपस्थापित करते हुए कहा है -

1. लोक में नानाविध ऋतुभेद प्राप्त होता है, उसके पीछे कोई कारण होना चाहिए और वह काल है।<sup>19</sup>
2. आम्र आदि वृक्ष अन्य समस्त कारणों के उपस्थित होने पर भी फल से वंचित रहते हैं। वे नानाशक्ति से समन्वित कालद्रव्य की अपेक्षा रखते हैं।<sup>20</sup>
3. वर्तमान, अतीत एवं भविष्य का नामकरण भी काल द्रव्य के बिना संभव नहीं हो सकेगा तथा काल के बिना पदार्थों को पृथक्-पृथक् नहीं जाना जा सकेगा।<sup>21</sup>

4. क्षिप्र, चिर, युगपद, मास, वर्ष, युग आदि शब्द भी काल की सिद्धि करते हैं।<sup>22</sup>
5. काल को षष्ठ द्रव्य के रूप में आगम में भी निरूपित किया गया है, यथा-कड़ णं भंते! दव्वा? गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता, तंजहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अब्बासमए य।<sup>23</sup>

इस प्रकार आगम और युक्तियों से काल पृथक् द्रव्य के रूप में सिद्ध है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल के उपकार हैं। द्रव्य का होना ही वर्तना, उसका विभिन्न पर्यायों में परिणमन परिणाम, देशान्तर प्राप्ति आदि क्रिया, ज्येष्ठ होना परत्व तथा कनिष्ठ होना अपरत्व है। काल को परमार्थ और व्यवहार काल के रूप में दो प्रकार का प्रतिपादित किया जाता है।

### जैन प्रतिपादन का वैशिष्ट्य

पंचास्तिकायात्मक या षड्द्रव्यात्मक जगत् का प्रतिपादन जैन आगम-वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है। जीव एवं पुद्गल अथवा जड़ एवं चेतन का अनुभव तो हमें होता ही है, किन्तु इनमें गति एवं स्थिति भी देखी जाती है। गति एवं स्थिति में सहायक उदासीन निमित्त के रूप में क्रमशः धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय की स्वीकृति और उसका जीव एवं पुद्गल के कारण लोकव्यापित्व स्वीकार करना संगत ही प्रतीत होता है। इन सबके आश्रय हेतु आकाशास्तिकाय का प्रतिपादन अपरिहार्य था। आकाश को लोक तक सीमित न मानकर उसे अलोक में भी स्वीकार किया गया है, क्योंकि लोक के बाहर रिक्त स्थान आकाशस्वरूप ही हो सकता है। पंचास्तिकाय के साथ पर्याय परिणमन के हेतु रूप में काल को मान्यता देना भी जैन-परम्परा को आवश्यक प्रतीत हुआ। इसलिए षड्द्रव्यों की मान्यता साकार हो गई।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय जैन दर्शन का अपना वैशिष्ट्य है। इनका अन्य किसी भारतीय दर्शन में निरूपण नहीं हुआ है। यद्यपि सांख्यदर्शन में मान्य प्रकृति के रजोगुण से धर्मद्रव्य का तथा तमोगुण से अधर्मद्रव्य का साम्य प्रतीत होता है, किन्तु जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय स्वतन्त्र द्रव्य हैं, जबकि सांख्य में ये प्रकृति के स्वरूप हैं। दूसरी बात यह है कि धर्म एवं अधर्म द्रव्य लोकव्यापी हैं और तीसरी बात यह है कि सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण मिलकर कार्य करते हैं, जबकि जैनदर्शन में ये दोनों स्वतंत्ररूपेण कार्य में सहायक बनते हैं।

आकाश को द्रव्य रूप में प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है, किन्तु आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश भेद जैनेतर दर्शनों में प्राप्त नहीं होते। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों में 'शब्द' को आकाश द्रव्य का गुण माना गया है 'शब्दगुणकमाकाशम्', जबकि जैनदर्शन में आकाश का गुण अवगाहन करना माना गया है। शब्द को तो पुद्गल द्रव्य में सम्मिलित किया गया है।

वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को द्रव्य माना जाता है। इनमें से आकाश, काल एवं आत्मा को तो पृथक् द्रव्य के रूप में जैन दार्शनिकों ने भी अंगीकार किया है, किन्तु पृथ्वी, अप्, तेजस् एवं वायु की पृथक् द्रव्यता मानने का जैनदर्शनानुसार कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि वे सजीव होने पर जीव द्रव्य में और निर्जीव होने पर पुद्गल द्रव्य में समाहित हो जाते हैं। दिशा कोई पृथक् द्रव्य नहीं है वह तो 'आकाश' की ही पर्याय है। मन को जैन दार्शनिकों ने पुद्गल में सम्मिलित किया है।

आगमों में पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय का विस्तार से निरूपण मिलता है। पुद्गल द्रव्य में 'परमाणु' का विवेचन महत्वपूर्ण है। परमाणु पुद्गल की सबसे छोटी स्वतंत्र इकाई है। परमाणु का जैसा वर्णन आगमों में उपलब्ध होता है वह आश्चर्यजनक है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से आकार में तुल्य होकर भी वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श में भिन्न होता है। कोई काला, कोई नीला आदि वर्ण का होता है। कोई एकगुण काला, कोई द्विगुण काला आदि होने से भी उनमें भेद होता है।

परमाणु की अस्पृशद्गति अद्भुत है। इस गति के कारण परमाणु एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सकता है।<sup>24</sup>

जैनदर्शन के ग्रन्थों में आगे चलकर 'अस्तिकाय' के स्थान पर द्रव्य शब्द का ही प्रयोग हो गया तथा वस्तु या सत् की व्याख्या 'द्रव्यपर्यायात्मक' स्वरूप से की जाने लगी। किन्तु आगमों में अस्तिकाय एवं द्रव्य के स्वरूप में किंचिद् भेद रहा है।

**सन्दर्भः**

1. चउव्विहे लोए वियाहिते : दव्वतो लोए, खेतओ लोए, कालओ लोए, भावओ लोए। -इसिभासियाइं, अध्ययन 31
2. गोयमा! पंच अत्थिकाया पण्णत्ता, तं जहा- धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाय, जीवत्थिकाय, पोग्गलत्थिकाए। -व्याख्याप्रज्ञप्ति 2, 10, 1
3. से किं तं दव्वणामे? दव्वणामे छव्विहे पण्णते, तंजहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए अद्दासमए या - अनुयोगद्वारसूत्र, 218
4. द्रष्टव्य, व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 2, उद्देशक 10, सूत्र 7-8
5. णवरं पएसा अणंता भणियव्वा। - वही
6. वही, सूत्र 2-6
7. अनुयोगद्वार, सूत्र 218
8. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 8, उद्देशक 10, सूत्र 23-24
9. स्थानांगसूत्र, स्थान 4, उद्देशक 3
10. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 25, उद्देशक 2
11. प्रज्ञापनासूत्र, पद 5, सूत्र 500-503
12. वही, सूत्र 504
13. वही, सूत्र 438-439
14. उत्तराध्ययनसूत्र, 28. 9-12
15. प्रज्ञापनासूत्र, पद 3 सूत्र 270
16. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक 13, उद्देशक 4, सूत्र 24-28
17. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक 20, उद्देशक 2, सूत्र 4-8
18. अत्र द्रव्याभेदवर्ति-वर्तनादिविवक्षया। कालोऽपि वर्तनाद्यात्मा जीवाजीवतयोदितः पर्यायाणां हि द्रव्यत्वेऽनवस्थापि प्रसज्यते। पर्यायरूपस्तत्कालः पृथग् द्रव्यं न संभवेत्॥ -लोकप्रकाश, सर्ग 28, श्लोक 13 व 15
19. वही, 28. 47
20. वही, 28.48
21. वही, 28.49
22. वही, 28,53
23. वही, 28.55 के पश्चात्
24. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र. 3, 24.25



## जैन चिन्तन में धर्म का स्वरूप एवं माहात्म्य

डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय वाङ्मय में धर्म की अनेकों परिभाषाएँ मिलती हैं। किन्तु सभी परिभाषाएँ स्वभाव से भिन्न होते हुए भी एक बात में अवश्य सहमत दिखती हैं कि धर्म की गवेषणा मानव समुदाय के कल्याणार्थ की गयी है। अन्यान्य धर्मों की तरह जैन धर्म में भी धर्म को उसके मूल अर्थ में परिभाषित किया गया है साथ ही धर्म का जैन दर्शन में जो विशेष पारिभाषिक अर्थ है उसका भी यथास्थान विनियोग किया गया है। विद्वान् लेखक ने धर्म को जैन धर्म की विभिन्न परिभाषाओं के आलोक में व्याख्यायित करने का सफल प्रयास किया है। -सम्पादक

भारतीय परम्परा में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक साहित्य में धर्म शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। अथर्ववेद<sup>1</sup> में धार्मिक क्रिया संस्कार से अर्जित गुण के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में सकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद्<sup>2</sup> में धर्म की तीन शाखाएँ मानी हैं- यज्ञ अध्ययन दान, तपस्या और ब्रह्मचारित्व। यहाँ धर्म शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्तव्य की ओर संकेत करता है। तंत्रवार्तिक के अनुसार धर्मशास्त्रों का कार्य है वर्णों और आश्रमों के धर्म की शिक्षा देना। मनुस्मृति<sup>3</sup> के व्याख्याता मेघातिथि के अनुसार स्मृतिकारों ने धर्म को पाँच स्वरूप माने हैं- 1. वर्ण धर्म 2. आश्रम धर्म 3. वर्णाश्रम धर्म 4. नैमित्तिक धर्म तथा प्रायश्चित्त तथा 5. गुणधर्म अर्थात् अभिषिक्त राजा के कर्तव्य। डॉ. काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में धर्म शब्द का यही अर्थ लिया है।

पूर्वमीमांसा सूत्र<sup>4</sup> में जैमिनि ने धर्म को वेद विहित प्रेरक लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है अर्थात् वेदों में निर्दिष्ट अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है। वैशेषिक सूत्रकार<sup>5</sup> ने उसे ही धर्म कहा है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो। महाभारत<sup>6</sup> के अनुशासन पर्व में अहिंसा को परमधर्म कहा है और वनपर्व<sup>7</sup> में आनुंशस्य को परम धर्म कहा है। मनुस्मृति<sup>8</sup> में आचार को परम धर्म कहा है। इसी तरह बौद्ध साहित्य में धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं इसे भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा का द्योतक माना है।

जैन परम्परा में धर्म शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। धर्म का प्राचीनतम लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में मिलता है-

**चारितं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिहिट्ठो।**

**मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो<sup>9</sup>॥**

चारित्र ही धर्म है। यह मनुस्मृति के 'आचारः परमो धर्मः' से मिलता हुआ है। किन्तु मनुस्मृति के आचार रूप परम धर्म में और आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्र में बहुत अन्तर है। आचार केवल क्रियाकाण्डरूप हैं किन्तु चारित्र उसकी निवृत्ति से प्रतिफलित आन्तरिक प्रवृत्ति रूप है।

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है। इसका अर्थ है धारण करना धारतीति धर्मः। धर्म शब्द की व्युत्पत्तिपरक इस व्याख्या के अनुसार धर्म वह कर्तव्य है जो प्राणीमात्र के ऐहिक और पारलौकिक जीवन पर नियंत्रण स्थापित कर सबको सुपथ पर ले चलने में सहायक होता है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार - 'संसार दुःखःसत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे'<sup>10</sup> अर्थात् जो उत्तमसुख में धरता है वह धर्म है। जैसे किसी वस्तु को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर धरना। उसी तरह जो जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में धरता है वह धर्म है। इसमें धारणवाली बात भी आ जाती है। जब कोई धर्म को धारण करेगा तभी तो वह उसे संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में धरेगा कैसे? क्योंकि उत्तम सुख को प्राप्त करने के लिए संसार के दुःखों से छुटकारा आवश्यक है और संसार के दुःखों से छूटने के लिए उन दुःखों के कारणों से छूटना आवश्यक है। अतः जो संसार के दुःखों के कारणों को मिटाने में समर्थ है वही धर्म है।

अज्ञान तथा तृष्णा के कारण यह जीव अनादि से चार गति रूप संसार में भ्रमण करता आया है। जब तक वह आत्महित को नहीं पहचानेगा, तब तक सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं करेगा तथा भ्रमण का चक्र प्रवाहमान रहेगा। बुद्धिमान मानव को अपने आत्मा के ऊपर करुणाभाव लाकर उसको जन्म, जरा, मरणादि दुःखों से बचाने के लिए धर्म की शरण लेना चाहिए।

आचार्य योगीन्दुदेव के अनुसार-

**आउ गलइ णवि मणु गल णवि आसा हु गलेइ।**

**मोहु फुरइ णवि अप्प हिउ इम संसार भमेइ ॥<sup>11</sup>**

अर्थात् आयु गलती जाती है परन्तु मन नहीं गलता है और न आशा तृष्णा ही गलती है। मोहभाव फैलता रहता है किन्तु अपने आत्मा का हित करने का भाव

नहीं होता है। इस तरह यह जीव संसार में भ्रमण किया करता है।

**अण्णा ते भयवंतं बुह जे परभाव चयंति।**

**लोयालोय-पयासयरू अप्पा विमल मुणंति॥<sup>12</sup>**

अर्थात् जो परभावों का त्याग करते हैं और लोकालोक प्रकाशक निर्मल अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे भगवान ज्ञानी महात्मा धन्य है।

**सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एवं तव कार्यः।**

**सुखितस्य तदाभिवृद्धयै दुःखभुजस्तदुपधातायि॥<sup>13</sup>**

अर्थात् हे जीव! सुख दुःख दोनों अवस्था में तेरा एक मात्र धर्म ही शरण है। अतः तू एक धर्म का ही सेवन कर। वह धर्म तेरे लिए सुख की वृद्धि का कारण एवं दुःख नाश का कारण होगा।

**धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य।**

**तस्मात् सुखभङ्गाधया माभूत्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥<sup>14</sup>**

अर्थात् धर्म सुख का कारण है और कारण अपने कार्य का विरोधी नहीं होता है अतः तू सुखनाश के भय से धर्म से विमुख मत हो।

**धर्मादवाप्तविभवो धर्म प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।**

**बीजादवाप्तधान्यः कृषीबलस्तस्य बीजमिव॥<sup>15</sup>**

अर्थात् जिस प्रकार किसान बीज से उत्पन्न धान्य (गेहूँ तथा चावल) आदि को प्राप्त करता है। उसी प्रकार हे भव्य! तूने जो सुख सम्पत्ति प्राप्त की है वह सब धर्म का ही फल है अतः तू भी उक्त सुख का बीजभूत उस धर्म का संरक्षण करके ही उसका उपभोग कर।

**संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिंतामणेरपि।**

**असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्तये॥<sup>16</sup>**

अर्थात् लोक में कल्पवृक्ष प्रार्थना के अनुसार अभीष्ट फल देता है। चिंतामणि मन की कल्पना के अनुरूप फल देता है किन्तु धर्म एक ऐसा अपूर्व पदार्थ है जिसके लिए न कभी याचना न कभी मन में कल्पना करनी पड़ती है।

**साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात्संसारसारं पुनः**

**तत्त्यक्तवैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम्।**

**त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते।**

**मा भूभौतिक मोदक व्यतिकरं संपाद्य हस्यास्पदम् ॥<sup>17</sup>**

अर्थात् जब तीर्थंकर चक्रवर्ती भी सब ऐश्वर्य को त्याग करके ही मुक्ति स्त्री को वरण करते हैं तब सामान्य मनुष्य का तो कहना ही क्या? अतः मुमुक्षुजन कीचड़ में पैर धोने की अपेक्षा कीचड़ में फंसे मात्र धर्म की शरण लें तभी

सुख मिलेगा। परिग्रह में कभी न सुख मिला है न मिलेगा। अतः परिग्रह का पूर्णरूप से त्याग करना ही सुखकारी है, अन्यथा दुःख ही दुःख है। जिस प्रकार तराजू के एक पलड़े को सोना, चांदी रत्न आदि से भर दें और एक पलड़े को खाली रखें, दोनों पलड़े उठाने पर खाली पलड़ा ऊपर जायेगा। उसी प्रकार निस्पृही संत ऊपर ही जायेंगे। क्योंकि कोई घोर तप करते हैं। खूब उपवास भी कर रहे हैं फिर भी यदि वे परिग्रह रखते हैं तो उन्हें सच्चे मुनि नहीं कह सकते।

धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदा द्विधा च त्रयं।  
रत्नानां परमं तथा दर्शावधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः॥  
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसंगोज्झिता।  
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते॥<sup>18</sup>

अर्थात् प्राणियों के ऊपर दयाभाव रखना, यह धर्म का स्वरूप है। वह धर्म गृहस्थ (श्रावक) और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एक सम्यक्चारित्र्य रूप उत्कृष्ट रत्नत्रय के भेद से तीन प्रकार का तथा उत्तम क्षमा आदि के भेद से दस प्रकार का भी है। परन्तु निश्चय से तो मोह के निमित्त से उत्पन्न होने वाले मानसिक विकल्पसमूह से तथा वचन एवं शरीर के संसर्ग से रहित जो शुद्ध आनन्दरूप आत्मा की परिणति होती है उसे ही 'धर्म' इस नाम से कहा जाता है।

प्राणियों के ऊपर दया करना, रत्नत्रय का धारण करना तथा उत्तम क्षमादि रूप दस धर्मों का पालन करना यह सब व्यवहार धर्म का स्वरूप है। निश्चय धर्म तो शुद्ध आनन्दमय आत्मा की परिणति को कहा गया है।

शान्ते कर्मण्युचितसकलक्षेत्र कालादिहेतौ  
लब्ध्वा स्वास्थ्यं कथमपि लसद्योगमुद्राविशेषम्।  
आत्मा धर्मो यदममसुखस्फीतसंसारगतां  
दृद्धृत्य सुखमयपदे धारयत्यात्मनैव॥<sup>19</sup>

अर्थात् कर्म के उपशान्त होने के साथ योग्य समस्त क्षेत्र-कालादिरूप सामग्री के प्राप्त हो जाने पर केवल ध्यानमुद्रा से संयुक्त स्वास्थ्य (आत्मरूपस्थता) को जिस किसी प्रकार से प्राप्त करके चूँकि यह आत्मा दुःखों से परिपूर्ण संसाररूपी गड्ढे से अपने को निकालकर अपने आप ही सुखम् पद अर्थात् मोक्ष में धारण कराता है अतएव वह आत्मा ही धर्म कहा जाता है।

'इष्टस्थाने धरति इति धर्मः' इस निरुक्ति के अनुसार जो जीव को संसार दुःख से निकलकर अभीष्ट पद में प्राप्त कराता है, उसे धर्म कहा जाता है। कर्मों के उपशान्त होने से प्राप्त हुई द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप सामग्री के द्वारा अनन्तचतुष्टयरूप स्वास्थ्य का लाभ होता है। इस अवस्था में एकमात्र ध्यानमुद्रा ही शेष रहती है, शेष सब विकल्प छूट जाते हैं। अब यह आत्मा अपने आपको अपने द्वारा ही संसाररूप गर्त से निकालकर मोक्ष में पहुँचा देता है। इसलिए उपर्युक्त निरुक्ति के अनुसार वास्तव में आत्मा का नाम ही धर्म है, उसे छोड़कर अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता।

**उप्यणोदयभोगी, विओगबुद्धीए तस्य सो णिच्चं।  
कंखामणागयस्स य, उदयस्स ण कुव्वए णाणी।<sup>20</sup>**

अर्थात् ज्ञानी जीव के वर्तमानकालीन उदय का भोग निरन्तर वियोगबुद्धि से उपलक्षित रहता है अर्थात् वर्तमान भोग को नश्वर समझकर वह उसमें परिग्रहबुद्धि नहीं करता और अनागत भविष्यत्कालीन भोग की वह आकांक्षा नहीं करता।

भोग तीन प्रकार का है- 1. अतीत, 2. वर्तमान और 3. अनागत। उनमें जो अतीत हो चुका है उसमें परिग्रह बुद्धि होना शक्य नहीं है। वर्तमान भोग को ज्ञानी जीव वियुक्त हो जाने वाला मानता है इसलिए उसमें परिग्रह भाव धारण नहीं करता तथा अनागतभोग में आकांक्षारहित होता है इसलिए तत्सम्बन्धी परिग्रह भी उसके संभव नहीं है। इस प्रकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव निष्परिग्रही है यह बात सिद्ध होती है।

**जो वेददि वेदिज्जदि, समए-समए विणस्सदे उहयं।  
तं जाणगो दु णाणी, उभयं पि ण कंखइ कयावि।<sup>21</sup>**

अर्थात् जो वेदन करता है और जिसका वेदन किया जाता है वे दोनों भाव समय समय में नष्ट होते रहते हैं अर्थात् वेद्य-वेदक भाव क्रम से होते हैं, अतः एक समय में अधिक देर तक अवस्थित नहीं रहते। ज्ञानी जीव उन दोनों भावों को जानने वाला है, वह उनकी कभी भी आकांक्षा नहीं करता है।

**बंधुवभोगणिमित्ते, अज्झवसाणोदएसु, णाणिस्स।  
संसारदेहविसएसु, णेव उप्यज्जदे रागो।<sup>22</sup>**

अर्थात् बंध और उपभोग के निमित्तभूत, संसार और शरीर विषयक अध्यवसान के जो उदय हैं उसमें ज्ञानी जीव के राग उत्पन्न नहीं होता है।

णाणी रागप्पजहो, सत्त्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।  
णो लिप्पदि रजएणदु, कद्दमज्झे जहा कणयां।।  
अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।  
लिप्पदि कम्मरण दु, कद्दमज्झे जहा लोहां।<sup>23</sup>

अर्थात् ज्ञानी सब द्रव्यों में राग छोड़ने वाला है, इसलिए कर्म के मध्यगत होने पर भी कर्मरूपी रज से उस प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि कीचड़ के बीच में पड़ा हुआ सोना परन्तु अज्ञानी सब द्रव्यों में रागी है, अतः कर्मों के मध्यगत होता हुआ कर्मरूपी रज से उस प्रकार लिपा होता है जिस प्रकार कि कीचड़ के बीच में पड़ता हुआ लोहा।

भुंजंतस्सवि विविहे, सच्चित्ता चित्तमिस्सिए दव्वे।  
संखस्स सेदभावो, णवि सक्कदि किण्णगो काऊं।।  
तह णाणिस्य वि विहे, सच्चिताचित्तमिस्सिए दव्वे।  
भुंजंतस्सवि णाणं, ण सक्कमण्णाणदं णेदु।  
जइया स एव संखो, सेद सहावं तयं पजहिदूण।  
गच्छेज्ज किण्हभावं, तइया सुक्कत्तणं पजहे॥  
तह वाणी वि हु जइया, णाण सहावं तयं पजहिऊण।  
अण्णाणेण परिणदो, तइया अण्णाणदं गच्छे।<sup>24</sup>

अर्थात् जिस प्रकार यद्यपि शंख विविध प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो भी उसका श्वेतपना काला नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार यद्यपि ज्ञानी विविध प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का उपयोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानता को प्राप्त नहीं कराया जा सकता और जिस समय वही शंख उस श्वेत स्वभाव को छोड़कर कृष्ण भाव को प्राप्त हो जाता है उस समय वह जिस श्वेतपने को छोड़ देता है उसी प्रकार वह ज्ञानी जिस समय उस ज्ञान स्वभाव को छोड़कर अज्ञान स्वभाव से परिणत होता है उस समय अज्ञान भाव को प्राप्त हो जाता है।

भाव यह है कि ज्ञानी के परकृत बंध नहीं है, वह आप ही जब अज्ञानरूप परिणमन करता है तब स्वयं निज के अपराध से बंधदशा को प्राप्त होता है।

मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।  
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अण्णादत्त्वेसु।<sup>25</sup>

18 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 3 / जुलाई-सितम्बर 2012

अर्थात् हे भव्य! तू मोक्षमार्ग में आत्मा को लगा, उसी का ध्यान कर, उसी का चिंतन कर, उसी में निरन्तर विहार कर। अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

इस प्रकार हम सबको धर्म का स्वरूप एवं महत्त्व समझकर अपने जीवन में धारण करना चाहिए।

### सन्दर्भ:

1. अथर्ववेद, 9.9.17
2. छान्दोग्योपनिषद, 2/23
3. मनुस्मृति, 2/7
4. पूर्वमीमांसा सूत्र, 1, 1, 2
5. वैशेषिक सूत्र, 1/1/2
6. महाभारत (अनुशासन पर्व)115-1
7. महाभारत (वनपर्व) 373.76
8. मनुस्मृति 1.108
9. प्रवचनसार, गाथा सानाधिकार 7
10. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 1/2
11. योगसार, 49
12. वही, 64
13. वही, 18
14. वही, 20
15. वही, 21
16. वही, 22
17. वही, 40
18. पद्मनन्दि पंचाविंशतिका, 1/7
19. वही, 1/133
20. समयसार, गाथा 215
21. वही, 216
22. वही, 217
23. वही, 218, 219
24. वही, 220, 221, 222, 223
25. वही, 412

\*\*\*\*

## प्राकृतकथा वाङ्मय में निहित वैश्विक संदेश

डॉ. रजनीश शुक्ल

प्राकृत कथा साहित्य जैन साहित्य का एक विशाल एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। दर्शन की गूढ़ से गूढ़ समस्याओं के समाधान के लिए तथा अपने विचारों एवं अनुभूतियों को जनमानस तक पहुँचाने के लिए तीर्थकरों, गणधरों तथा जैनाचार्यों ने कथाओं को सशक्त माध्यम माना। कथा साहित्य में मुख्य रूप से नीति कथा एवं लोक कथा के अन्तर्गत सभी प्रकार की कथाओं का समावेश हो जाता है। ये कथाएँ तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का आइना हैं जिनमें प्रतिबिम्बित संयम, अहिंसा, सदाचार, सहिष्णुता, क्षमा, विनय आदि के संदेशों को यदि उनके सही अर्थों में अनुपालित किया जाय तो ये वैश्विक संदेश सिद्ध हो सकती हैं। प्रस्तुत लेख में लेखक ने प्राकृत साहित्य में निहित वैश्विक संदेशों को बड़ी सूक्ष्मता से निदर्शित करने का प्रयास किया है। -सम्पादक

मानव जीवन के मनोरंजन एवं ज्ञानवर्धन के लिए कथा साहित्य सर्वोत्तम सरस व सरल साधन है। साहित्य में कथानक की विधा अत्यन्त पुरातन है। सम्भवतः मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ ही यह विधा भी विकसित होती चली गयी। कथा साहित्य का प्राचीनतम रूप लोककथाओं में प्राप्त होता है। इन लोककथाओं में कुतूहल एवं जिज्ञासा का भाव इस प्रकार विद्यमान होता है कि श्रोता चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, बाल हो या वृद्ध, वह उन्हें सुनता चला जाता है।

प्राकृत कथा साहित्य का उद्गम स्थल प्राकृत आगम-साहित्य माना जा सकता है। प्राकृत आगम साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन तथा नीति एवं कर्तव्य का प्रणयन कथाओं के माध्यम से ही किया गया है। दर्शन की गूढ़ से गूढ़ समस्याओं को सुलझाने तथा अपने विचारों व अनुभूतियों को सरलतम रूप से जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए तीर्थकरों, गणधरों एवं अन्य जैनाचार्यों द्वारा कथाओं का ही आलम्बन लिया गया है। ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, विपाकसूत्र, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ आगमकालीन प्राकृत कथा ग्रंथों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।



प्राकृत कथाओं की सामग्री भी प्रायः जन-जीवन पर आधारित है, अतः इनमें लोकतत्त्व प्रचुर परिमाण में उपस्थित हैं। जहाँ कहीं भी विद्वानों को लोककथा दिखाई दी, उन्होंने उसे अपनाकर साहित्यिक रूप प्रदान कर दिया और इसी शैली ने प्राकृत कथा साहित्य के विकास को एक नई दिशा प्रदान की। पैशाची प्राकृत में लिखित गुणादय की 'बृहत्कथा' लोक कथाओं का संग्रह ग्रन्थ माना गया है। यद्यपि यह कथा ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है किन्तु इसके आधार पर परवर्तीकाल में अनेक प्राकृत कथाएँ लिखी गई हैं।

**कथ् (वाक्यप्रबन्धे)**<sup>1</sup> धातु से अङ्, एवं टाप् होकर 'कथा' शब्द बनता है। कथ्यते इति कथा, जो कही जाती है वह कथा है। भामह<sup>2</sup> के अनुसार संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की उस रचना को कथा कहते हैं जिसमें न तो वक्त्र अपरवक्त्र छन्द हों और न उच्छ्वास। इसमें किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा नायक के चरित्र का वर्णन होता है। आचार्यों ने कथा को कवि-कल्पित एवं आख्यायिका को ऐतिहासिक-वृत्त प्रधान कहा है। आख्यायिका<sup>3</sup> की परिभाषा साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार लिखा है कि

आख्यायिका कथावत्स्याकवेवंशादिकीर्तनम्,  
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं गद्यं क्वचित् क्वचित्  
कथाशानां व्यवच्छेद आश्वास इति वध्यते।  
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसां येन केनचित्।  
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।

अमर-कोशकार<sup>4</sup> ने 'आख्यायिकोपलब्धार्थप्रबन्धकल्पना कथा' कहा है। कविराज विश्वनाथ<sup>5</sup> ने 'कथा' को इस प्रकार परिभाषित किया है-

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।  
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ॥

जैन वाङ्मय में कथा के स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। न्यायदीपिका<sup>6</sup> के अनुसार अनेक प्रवक्ताओं के विचार का जो विषय या पदार्थ है, उनके वाक्य-सन्दर्भों का नाम कथा है ।

“नाना प्रवक्तृत्वे सति तद्विचारवस्तुविषया वाक्यसंपद्लब्धिकथा।”  
भारतीय कथा साहित्य के गर्भ में दो उद्देश्य निहित रहते हैं-

(1) उपदेश तथा (2) मनोरंजन। इसी आधार पर प्राप्त कथा साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

(1) नीति कथा (Didactic Tale)

(2) लोक कथा (Popular Tale)।

(1) नीति कथा- नारायण पण्डित ने नीति कथाओं का प्रयोजन बताते हुये कहा है कि नीति कथाओं में बालकों को कथाओं के माध्यम से नीति की शिक्षा दी जाती है- 'कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते'। इससे स्पष्ट है कि नीति कथा ग्रन्थों में नीति एवं धर्म के विषयों का प्रतिपादन रहता है। इनमें नीति और धर्म शास्त्रों में वर्णित व्यावहारिक जीवन में सफलता प्राप्ति के साधनों-अपने धर्म का पालन, मान-मर्यादा का उल्लंघन न करना, आपत्ति-विपत्ति में धैर्य न छोड़कर साहस से कार्य करना, मित्र की रक्षा करना आदि का सरल एवं शीघ्रानुकरणीय चित्रण होता है।

नीति कथाओं के पात्र मनुष्य जाति के न होकर तिर्यक् जाति के पशु-पक्षी आदि होते हैं। ये पशु-पक्षी ही मानववत् अपना सभी कार्य व्यापार करते हैं। इनमें मित्रता-शत्रुता, राग-द्वेष, सन्धि-विग्रह आदि मनुष्य के समान ही देखे जाते हैं। इन्हें अपने हित-अहित, मान-अपमान का पूर्ण ध्यान रहता है।

इन नीति ग्रन्थों की वर्ण्य कथा गद्यात्मक होती है तथा जहाँ कहीं नीति अथवा उपदेश देना होता है वहाँ पर पद्यों का प्रयोग होता है। ये पद्य प्रायः पूर्ववर्ती नीतिग्रन्थों से उद्धृत किये जाते हैं। इन नीति वचनों से पूर्वकथन की पुष्टि की जाती है।

(2) लोक कथा- लोक कथायें भी नीतिकथाओं के अधिकांश लक्षणों से ही युक्त होती हैं, दोनों में जो वैभिन्न्य है, वह निम्नलिखित रूप में द्रष्टव्य है-

(i) नीति कथायें मुख्यतः उपदेशात्मक होती हैं जबकि लोक कथायें मनोरंजनात्मक। नीति कथाओं की योजना में कवि का प्रधान लक्ष्य मनुष्य मात्र को नैतिक उपदेश एवं शिक्षा देने का होता है, जिससे वे अपने व्यावहारिक जीवन में सदा सफल रहें, कहीं भी वे निराशा अथवा अपमान का अनुभव न करें, परन्तु लोककथाओं के चित्रण में कवि का ध्यान उन्हें अधिक आकर्षक एवं सरस बनाने का रहता है।

(ii) नीति कथाओं के पात्र तिर्यक् जाति में पशु-पक्षी-शेर, बन्दर, चूहा, तोता, मैना, कौआ आदि होते हैं, परन्तु लोककथाओं के पात्र अधिकतर मनुष्य जाति के ही होते हैं, कभी-कभी एकाग्र स्थल पर पात्र रूप में पशु-पक्षी दृष्टिगोचर हो जाता है।

प्राकृत वाङ्मय में कथा - साहित्य<sup>8</sup> का उदय ईसा की लगभग चौथी शताब्दी से प्रारम्भ होकर 16वीं-17वीं शताब्दी तक चलता है। इसमें कथा, उपकथा, अन्तर्कथा, आख्यान, दृष्टान्त, वृत्तांत और चरित आदि कथा के अनेक रूप दिखाई देते हैं। इनमें वाक्-कौशल, प्रश्नोत्तर, उत्तर-प्रत्युत्तर, प्रहेलिका, समस्यापूर्ति, सुभाषित, सूक्ति, कहावत, गीत, प्रगीत, चर्चरी, गाथा, छंद आदि का यथेष्ट उपयोग किया गया है।

अर्धमागधी-प्राकृत साहित्य<sup>9</sup> में विपुल कथा-साहित्य की संरचना की गई है, जिसमें आचार-मीमांसा, धर्म-निरूपण आदि की प्रधानता है। गूढ से गूढ विचारों एवं गहन अनुभूतियों को सरलतम रूप में जन-मानस तक पहुंचाने के लिए तीर्थंकर, गणधर एवं अन्य आचार्यों ने कथाओं का आधार लिया है। प्राकृत साहित्य में कथा की अनेक विधाएँ उपलब्ध होती हैं : जैसे वार्ता, आख्यान, कथानक, आख्यायिका, दृष्टान्त, उपाख्यान आदि। जैनाचार्यों ने कथा के अनेक भेदों की चर्चा की है। जो अन्यत्र अनुपलब्ध है। हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन और उद्योतनसूरि की कुवलयमाला कथा<sup>10</sup> में प्राकृत कथा रूपों की विस्तृत चर्चा हुई है।

जैन कथा-साहित्य के बीज अर्द्धमागधी में निबद्ध आगम साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिनका विकास निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका ग्रन्थों में कालक्रम से सम्पन्न हुआ। दशवैकालिक सूत्र<sup>11</sup> में प्रस्तुत वर्गीकरण के अनुसार इन कथाओं के तीन भेद प्राप्त होते हैं-

(1) अकथा, (2) सत्कथा और (3) विकथा।

जिन कथाओं से मिथ्यात्व-भावना के उद्दीपनपूर्ण वर्णनों के कारण मोहमयी मिथ्यादृष्टि उत्पन्न होती है ऐसी कथाओं को अकथा कहा गया है। जिन कथाओं में ज्ञान के साधनभूत तप, संयम, दान एवं शील जैसे सदगुणों की प्रशस्ति निबद्ध की जाती है उन्हें सत्कथा कहा जाता है। स्त्री कथा, धन कथा, भोजन कथा, नदी पर्वत से घिरे हुए स्थान की कथा, केवल पर्वत से घिरे हुए स्थान की कथा, राज कथा, चोर कथा, देश-नागर कथा, खानी सम्बन्धी कथा, नटकथा, भाटकथा, मल्लकथा, कपटजीवी व्याध व ज्वारी की कथा, हिंसकों की कथा, ये सब लौकिक कथाएं विकथा हैं। मूल आगम साहित्य में कथाओं के मुख्यतः तीन रूप मिलते हैं यथा अर्थकथा, धर्मकथा और कामकथा।<sup>12</sup> आचार्य हरिभद्र ने मिश्रकथा को जोड़कर इनके चार प्रकारों की उद्भावना की

है। किन्तु शैली की दृष्टि से कथाओं के पाँच भेद उपलब्ध होते हैं। यथा सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा। प्राकृत कथा साहित्य का आदिमोत जैन आगम साहित्य ही है।

तीर्थंकर महावीर के काल से प्रारम्भ हुई प्राकृत कथा साहित्य की धारा आज तक अनवरत प्रवाहित हो रही है। युगों युगों के इस अन्तराल में इसने सिर्फ अपना रूप परिवर्तित किया है। आगमकालीन कथाओं की उत्पत्ति कतिपय उपमानों, रूपकों और प्रतीकों से हुई है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने आगम कालीन कथाओं की प्रवृत्तियों के विश्लेषण में बताया है कि “आरम्भ में जो मात्र उपमाएं थीं उनको बाद में व्यापक रूप देने और धार्मिक मतावलम्बियों के लाभार्थ उनसे उपदेश ग्रहण करने के निमित्त उन्हें कथात्मक रूप प्रदान किया गया है।” प्राचीन आगम ग्रंथों में आचारांग के कुछ ऐसे रूपक और प्रतीक मिलते हैं, जिनके आधार पर परवर्ती ग्रंथों में कथाओं का विकास हुआ। आचारांग सूत्र<sup>13</sup> के छठें अध्ययन के प्रथम सूत्र में कहा गया है कि **से बेमि से जहावि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छन्नपलासे उम्मगंगं से नो लहई भजंगा इव.....न लभन्ति मुखं।** अर्थात् एक कछुए के उदाहरण द्वारा, जिसे शैवाल के बीच में रहने वाले एक छिद्र से ज्योत्स्ना का सौन्दर्य दिखलाई पड़ा था, जब वह पुनः अपने साथियों को लाकर उस मनोहर दृश्य को दिखाने लगा, तो वह छिद्र ही नहीं मिला। इस प्रकार त्यागमार्ग में सतत् सावधानी रखने का संकेत इस अंश में बताया गया है।

प्राकृत साहित्य का इतिहास<sup>14</sup> ग्रंथ में प्राकृत आगमों में आगत कथाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया गया है कि **सूत्रकृतांग** के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में पुण्डरीक का दृष्टान्त कथा साहित्य के विकास का अप्रतिम उदाहरण है। कथानक संकलन की दृष्टि से **ज्ञाताधर्मकथा** सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। ज्ञाताधर्मकथा में विभिन्न उदाहरणों तथा धर्मकथाओं के माध्यम से जैन धर्म के तत्त्व-दर्शन को समझाया गया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 19 अध्ययन है, जिसमें न्याय, नीति आदि के माध्यम से सामान्य नियमों को कथाओं द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया है। इन कथाओं में करुणा का महत्त्व, आहार का उद्देश्य, संयमित जीवन की कठोर साधना, शुभ परिणाम, सम्यक् श्रद्धा का महत्त्व, अनासक्ति, महाव्रतों की उन्नति, वैराग्य, कपट का परिणाम, निदान आदि सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ये सभी कथाएं मूल प्राकृत आगमों

की वैश्विक संदेश का समर्थन करती हुई प्रतीत होती हैं। अन्तकृद्दशासूत्र आगम के कथानक भौतिकता पर आध्यात्मिक विजय का संदेश प्रदान करते हैं। प्रायः सभी कथानकों में तप की उत्कृष्ट साधना का विवेचन किया गया है।

आख्यानक साहित्य की दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र महत्त्वपूर्ण आगम ग्रंथ है। इस आगम ग्रंथ की गणना मूलसूत्रों के अन्तर्गत की जाती है। इस कथाग्रंथ को तीर्थंकर महावीर की अन्तिम देशना के रूप में स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन में 36 अध्ययन हैं जिनमें धर्म, दर्शन, ज्ञान, चरित्र आदि की निर्मल धाराएं प्रवाहित हैं। ये आख्यानक जहां एक ओर धर्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को भी प्रकाशित करते हैं।

अर्द्धमागधी आगम साहित्य के अतिरिक्त उपलब्ध शौरसेनी साहित्य में भी अनेक कथानकों के उल्लेख हैं। इस सम्पूर्ण साहित्य में कर्मसिद्धान्त एवं दर्शन निरूपण में कथानकों के बीज यत्र-तत्र प्राप्त हो जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के भावपाहुड़ में बाहुबली, मधुपिंग, वशिष्ठमुनि, शिवभूति, बाहु, द्वीपायन, शिवकुमार, भव्यसेन आदि भावपूर्ण कथानकों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। तिलोयपण्णित में 63 शलाकापुरुषों के संबंध में मूलभूत प्रामाणिक सामग्री प्राप्त होती है। अर्द्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत के निबद्ध आगम-साहित्य में कथाएँ सूत्रशैली में उपलब्ध होती हैं और इन आगम-कथाओं का पूर्ण विकास निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका-साहित्य में हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आगमयुगीन कथाओं का लक्ष्य शुद्ध मनोरंजन न होकर मानव का नैतिक आध्यात्मिक कल्याण ही रहा है। ये समस्त कथाएँ धर्म-दर्शन सम्बन्धी किसी सिद्धान्त को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इनकी प्रकृति उपदेशात्मक है इसीलिए कथानकों का वातावरण एवं परिवेश धार्मिक स्थानों, व्यक्तियों एवं कथोपकथनों से ओतप्रोत है। निःसंदेह आगमयुगीन कथाएँ अपने समय के धार्मिक नियमों का विवेचन करने में सक्षम हैं।

आगम साहित्य में उपलब्ध कथाएँ धार्मिक वातावरण के कारण कहीं-कहीं बोझिल प्रतीत होती हैं, किन्तु आगमों पर लिखे गये व्याख्या-साहित्य में कथा-साहित्य और भी अधिक पुष्पित व पल्लवित हुआ है। निर्युक्तियों व चूर्णियों में ऐतिहासिक, धार्मिक, लौकिक आदि कई प्रकार की कथाएँ उपलब्ध हैं। सूत्रकृतांगचूर्णि में आर्द्रककुमार, अर्थलोभी वणिक् आदि के सुन्दर कथानक

हैं। **आवश्यकचूर्णि** में वर्णित उपदेश के साथ-साथ लोक जीवन की अभिव्यक्ति भी करती हैं। इस ग्रन्थ की कथाएँ सरस व मनोरंजक हैं। इनमें से कई कथाएँ आज भी लोक-प्रचलित हैं। **दशवैकालिकचूर्णि** में 'ईष्या मत करो', 'अपना-अपना पुरुषार्थ' और 'गीदड़ की राजनीति' ये सुन्दर लोक-कथाएँ हैं। **व्यवहारभाष्य** व **बृहत्कल्पभाष्य** में प्राकृत की उपदेशप्रद-नीतिकथाएँ बहुलता से प्राप्त होती हैं।

आगम टीका साहित्य कथाओं का भंडार ही है। आचार्य नेमिचन्द्रसूरि द्वारा रचित उत्तराध्ययन की **सुखबोधा टीका** से लगभग एक सौ पच्चीस कथाएँ वर्णित हैं। इन कथाओं में रोमांस, मनोरंजन, नीति, उपदेश, हास्य-व्यंग आदि समस्त तत्त्वों का समावेश पर्याप्त मात्रा में हुआ है। ये कथाएँ न केवल उपदेशात्मक हैं, अपितु मनोरंजक एवं चमत्कारी भी हैं।

भारतीय लोक कथा-साहित्य एवं विकास-यात्रा को जानने की दृष्टि से प्राकृत कथा-साहित्य महत्त्वपूर्ण साधन है। प्राकृत कथा-साहित्य भाषा-विज्ञान एवं जैन तत्त्वदर्शन तथा सिद्धान्तों को जानने का माध्यम ही नहीं अपितु भारत के गौरवपूर्ण इतिहास व संस्कृति के निर्माण में इस साहित्य की महत्त्वपूर्ण देन है। इन कथाओं में जैन धर्म के गूढ़ एवं क्लिष्ट सिद्धान्तों का प्रणयन प्रायः जैनाचार्यों के कथाओं के माध्यम से किया है। कथाओं का अवलम्बन लेकर तप, संयम, अनेकान्त, लेश्या, कर्मसिद्धान्त, निदान प्रभृति जैन तत्त्वदर्शन के विषयों का प्रतिपादन इन कथाओं में मिलता है। इन कथाओं में धार्मिक मूल्यों के साथ-साथ प्राकृत कथाकृतियों में सहिष्णुता, धैर्य, पुरुषार्थ, साहस जैसे सामाजिक मूल्यों को भी बड़ी ही सुन्दरता से उकेरा गया है।

प्राकृत कथा-साहित्य मानवता का पोषक साहित्य है। इस साहित्य में मनुष्य भव को ही प्रधानता दी गई है। धर्म, साधना, जाति, वर्ण आदि भेदक तत्त्वों को गौण रखकर अहिंसा, संयम, तप आदि आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर मानव की उच्चता या अधमता का मूल्यांकन किया गया है। आत्मानुभूति एवं समत्व के सिद्धान्त के आधार पर दान, सेवा, परोपकार, विनय, सदाचार जैसे मानवीय मूल्य इस साहित्य में उद्घाटित हुए हैं। लोक कल्याणकारी तत्त्वों से प्रेरित होने के कारण प्राकृत आगमिक कथानकों में सुभाषितों एवं लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है। कथाओं में प्रयुक्त वाक्चातुर्य, संवाद बुद्धि-चमत्कार, हेलिका, प्रहेलिका, समस्यापूर्ति, सूक्तियाँ, कहावतों आदि के माध्यम से अनेक मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है।

साधारणतः कथा-साहित्य का उद्देश्य ज्ञानवर्द्धन अथवा मनोरंजन करना होता है, किन्तु प्राकृत कथा साहित्य के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है कि इस परम्परा में लिखे गए अधिकांश ग्रन्थों का उद्देश्य मनोरंजन की अपेक्षा किसी उच्चतर सामाजिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक मूल्य की प्रतिष्ठा करना रहा है। प्रायः प्रत्येक कथा चाहे वह छोटी हो या बड़ी उसका मुख्य उद्देश्य अशुभ कर्मों के कटु-परिणाम बताकर मानव को त्याग, सदाचार अथवा व्रताचार की सत्प्रेरणा प्रदान करना है।

इस प्रकार आगम काल में प्रतीकों, रूपकों और उपमानों के आधार पर आविर्भूत प्राकृत कथाओं का आगमोत्तर काल में पर्याप्त विकास हुआ। टीकायुग की कथाओं की विशिष्ट प्रवृत्ति नीतिपरकता है। आगम साहित्य की कथाएँ प्रायः धार्मिकता से अभीभूत थी। लेकिन टीका युगीन कथाओं में मनोरंजन को भी स्थान दिया गया है।

भगवान् महावीर के द्वारा उपदेशित लिपिबद्ध प्राकृत-वाङ्मय में जन-जन को सरल, सात्विक, शालीन, अभिमानरहित, प्रदर्शनरहित सहज जीवन जीने की प्रेरणा, दुःखित, पीड़ित तथा संकट-ग्रस्त प्राणियों, वृद्धों, रोगियों, अभाव पीड़ितों को सहयोग करने का उनकी सेवा करने का सन्देश प्रदान किया गया है। विश्व-मानव को व्यक्ति, जाति, समाज तथा राष्ट्र इत्यादि के परिपार्श्व में पनपने वाली संकीर्णताओं से ऊँचे उठकर विश्वमैत्री, ऐक्य, समता एवं सौहार्दपूर्ण जीवन-जीने की शिक्षा दी, दूसरों के स्वत्वों, अधिकारों का हरण न करने, दम्भ, माया, छल, कपट, धोखा, जालसाजी, असत्य, वैमनस्य, द्वेष आदि दुर्गुणों से बचने, किसी के भी साथ शत्रुभाव न रखने तथा किसी से भी घृणा न करने का आग्रह किया।

प्राकृत साहित्य में मानव जीवन की महत्ता और उपादेयता के बारे में कहा गया है कि मानव रूपी इस अमूल्य धरोहर को मूर्खतावश व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। इसी के साथ जीवन की क्षणभंगुरता बताते हुए कहा गया है कि मनुष्य मात्र को क्षण भर भी प्रमाद न करने का कर्त्तव्य-बोध दिया। इसके अतिरिक्त अहिंसा, संयम, क्षमा, विनय, समता भाव, विनय, सहिष्णुता और सदाचार रूपी वैश्विक मूल्यों के माध्यम से समझाया गया है।

### अहिंसा

समस्त प्राणियों के प्रति संयम भाव ही अहिंसा है, अहिंसा निउणं दिट्ठा

सव्वभूएसु संजमो।<sup>15</sup> मन, वचन और काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का खान होता है। शील, संयमादि गुणों से पूर्ण व्यक्ति ही सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलीन व पापों से दूषित रहता है, वह अहिंसा का पालन करने वाला नहीं हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और रगड़ना इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है।

संजमु सील सउच्चु तवु सूरि हि गुरु सोई।  
दाह छेदक संघायकसु उत्तम कंचण होई॥<sup>16</sup>

**संयम**

जीवन का सर्वांगीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग में इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से बताया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता-फिरता है, किन्तु भय विमुक्त होने पर पुनः अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारम्भ कर देता है, उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधनामार्ग पर बड़ी सतर्कतापूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित हो जाने पर वह पञ्चेन्द्रियों व मन को आत्मज्ञान में ही गोपन कर लेता है।<sup>17</sup>

संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं को अनुकूल लगता हो। तदर्थ उसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना का पोषक होना चाहिए। सभी सुखी और निरोग रहें, किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करें।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।

मा कर्षित् कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।

मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मेत्री निगद्यते॥<sup>18</sup>

विशिष्ट ज्ञानी और तपस्वियों के शमं, दम, धैर्य, गाम्भीर्य आदि गुणों में पक्षपात करना अर्थात् विनय, वन्दना, स्तुति आदि द्वारा आन्तरिक हर्ष व्यक्त करना प्रमोद भावना है।<sup>19</sup> इस भावना का मूल साधन विनय है। जिस प्रकार मूल के बिना स्कन्ध, शाखायें, प्रशाखायें, पत्ते, पुष्प, फल आदि नहीं हो सकते, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म व प्रमोद भावना में स्थैर्य नहीं रह सकता।<sup>20</sup>

**क्षमा**

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों द्वारा घोर व भयानक उपसर्ग



पहुँचाये जाने पर भी जो क्रोध से तप्त नहीं होता, उसको निर्मल क्षमाधर्म साधित होता है। यथा-

कोहेण जो ण तप्पदि, सुर-णर-तिरिण्हि कीरमाणे वि।

उवसग्गे वि रउत्थे, तस्स खमा णिम्मला होदि।<sup>21</sup>

मूलाचार<sup>22</sup> में कहा गया है कि राग अथवा द्वेष के वश मैंने कोई अकृतज्ञता की हो अथवा प्रमाद के कारण किसी को अनुचित कहा हो तो मैं उन सबसे क्षमा चाहता हूँ। यथा

रागेण व दोसेण व जं मे अकदण्हयं पमादेण।

जे मे किंचिवि भणिओं तमहं सम्मं खमाबेमि।

### समभाव

भावपाहुड (गाथा 107) में कहा गया है कि सज्जन पुरुष, दुर्जनों के निष्ठुर और कठोर वचनरूपी चपेटों को भी समभावपूर्वक सहन करते हैं। यथा दुज्जण-वयणचडक्कं, णिट्ठुर-कडुयं सहंति सप्पुरिसा।

सूत्रकृतांग सूत्र<sup>23</sup> में कहा गया है कि जो समग्र विश्व को समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय अर्थात् समदर्शी अपने-पराये की भेदबुद्धि से परे होता है।

### विनय

उपदेशमाला में विनय को जिन-शासन का मूल कहा गया है। संयम तथा तप से विनीत बनना चाहिये। जो विनय से रहित है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप? इसी तरह धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम लक्ष्य है। विनय के द्वारा ही मनुष्य बड़ी जल्दी शास्त्रज्ञान कीर्ति सम्पादन करता है। अन्त में निःश्रेयस् भी इसी के द्वारा प्राप्त होता है।

### सहिष्णुता

दशवैकालिक सूत्र<sup>24</sup> में सहिष्णुता के सम्बन्ध में कहा गया है कि क्षुधा, प्यास व दुःशैय्या, विषमभूमि-युक्त वासस्थान, सर्दी, गर्मी, अरति, भय-इन सब कष्टों को मुमुक्षु अव्यथित चित्त से सहन करे। समभाव से सहन किये गये दैहिक कष्ट महाफल के हेतु होते हैं। यथा-

खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं, अरइ भयं।

अहियासे अव्वहिओ, देह-दुक्खं महाफलं।।

द्वादशानुप्रेक्षा<sup>25</sup> में सहिष्णुता के सम्बन्ध में कहा गया है कि व्रती पुरुष उपसर्ग तथा तीव्र परिषह को ऋणमोचन(कर्ज चुकाने) की तरह मानता है। वह जानता

है कि ये तो मेरे द्वारा पूर्वजन्म में संचित किये गये कर्मों के ही फल हैं।

**रिणमोयणं व मण्णइ, जो उवसग्गं परीसहं तिक्वं।**

**पावफलं मे एदं, मया वि जं सच्चिदं पुक्वं॥**

### सदाचार

उत्तराध्ययन सूत्र<sup>26</sup> में सदाचार के बारे में कहा गया है कि सदा शान्त रहे, वाचाल न हो, ज्ञानी पुरुषों के समीप रहकर अर्थयुक्त आत्मार्थ-साधक पदों को सीखे। निरर्थक बातों को छोड़ें। विवेकी पुरुष अनुशासन से कुपित न हों, शान्ति-क्षमाशीलता धारण करें तथा क्षुद्र जनों की संगति न करें, उनके साथ हास्य और क्रीड़ा का वर्जन करें। जो व्यवहार धर्म से अनुमोदित है और ज्ञानी पुरुषों ने जिसका सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करनेवाला पुरुष कभी भी गर्हा-निन्दा को प्राप्त नहीं होता। यथा-

**धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।**

**तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छइ॥ -उत्त०सू० 1/42**

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आगमयुगीन कथाओं का लक्ष्य शुद्ध मनोरंजन की अपेक्षा मानव का नैतिक-आध्यात्मिक कल्याण ही रहा है। प्राकृत कथा साहित्य मानवता का पोषक रहा है। धर्म, साधना, जाति, वर्ण आदि भेदक तत्त्वों को दूर रखकर अहिंसा, संयम, तप, आदि आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर मानव की उच्चता या अधमता का मूल्यांकन किया गया है। आत्मानुभूति एवं समत्व सिद्धान्त के आधार पर दान, सेवा, परोपकार, विनय, सदाचार जैसे मानवीय मूल्यों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। उदाहरण स्वरूप दी गयी गाथाओं के अन्तर्गत गुम्फित मानवीय मूल्यों से पता चलता है कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए ये सभी मूल्य आवश्यक हैं। सभी मूल्यों का परस्पर एकात्मक कल्याण-मार्ग से आबद्ध रहें। उसमें सौहार्द्र, आत्मोत्थान, स्थायी शांति, सुख और समृद्धि के पवित्र साधनों का उपयोग होता रहे। इस प्रकार के विचार प्राचीन आगम साहित्य में बहुलता से प्राप्त होते हैं। आज के युग में जब हम धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से बहुत कुछ खोते जा रहे हैं, पुरानी विरासत को बचाये रखने के लिए प्राचीन प्राकृत वाङ्मय में वर्णित विभिन्न मूल्यों को अपनाकर व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के कल्याण की कामना की जा सकती है।

30 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 3 / जुलाई-सितम्बर 2012

**सन्दर्भः**

1. संस्कृत-हिन्दी कोश, वी, एस, आप्टे, पृष्ठ 242
2. भामह, काव्यालंकार, सूत्र 1/28
3. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 6/334-5
4. अमरकोश, 1/5/6
5. विश्वनाथ साहित्यदर्पण 6/311, एवं संस्कृत-हिन्दी कोश, वी, एस, आप्टे, पृष्ठ 139
6. जैन न्यायदीपिका
7. हितोपदेश, प्रस्तावना, 1/1
8. संस्कृत साहित्य का सरल इतिहास, पृष्ठ 126
9. शास्त्री, नेमिचन्द्र, प्राकृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 444
10. कुवलयमाला: कथा, प्रस्तावना डॉ. ए. एन. उपाध्ये, पृष्ठ 12
11. दशवैकालिक गाथा 188
12. दशवैकालिक वृत्ति, गा. 208-210
13. आचारांगसूत्र, 6/1, पृष्ठ 437
14. डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, प्रा. सा. इतिहास, पृष्ठ 309-312
15. दशवैकालिकसूत्र, 6/9
16. भावपाहुड, गाथा 143 टीका
17. जहा कुम्मे स अंगाई सए देहे समाहरो।  
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहारे।। सूत्रकृतांगसूत्र, 1/8/16
18. यशस्तिलक चम्पू, उत्तरार्ध 10
19. योगशास्त्र, 4/11
20. एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो। दशवैकालिकसूत्र, 9/2/2
21. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 364
22. मूलाचार, 58
23. सूत्रकृतांगसूत्र, 1/10/7
24. दशवैकालिकसूत्र, 8/27
25. द्वादशानुप्रेक्षा, 110
26. उत्तराध्ययनसूत्र, 1/8 व 1/9

\*\*\*\*\*

# ŚRĪMAD BHAGAVADĠĪTĀ: A JAIN PERSPECTIVE

T. U. Mehta

---

*Bhagavadġitā is one of the most pious treatise of Hinduism. Through the dialogues held between Lord Kṛṣṇā and Arjuna during the battle field of Kurukṣetra, it teaches us as to how the life should be lived in the midst of the dust an din of our usual conflicts of day to day existence. Pointing out the partial and complete similarities in certain concepts of Ġitā and Jainism, the author has beautifully touched some of the general trends of Jain perspective of Ġitā. - Editor*

In early year 2011 when I undertook the task of translating the verses of *Ġitā* in English I found them encompassing the spiritual struggle of human soul irrespective of its place of birth or religious traditions. Even a casual look at the verses of *Ġitā* at once conveys an impression that *Ġitā* is not a sectarian scripture. In my understanding *Ġitā* accepts the realities of our phenomenal existence with varieties of mental, physical and spiritual development as life progresses further. Every aspirant in spiritual journey has his individual aspirations, psychic development and cultural education, and therefore, every one of us has different problems to solve. The beauty of *Ġitā*'s teaching is that it seeks to provide solutions of all these varieties of problems as it does not confine itself rigidly to any particular ideology. In short, it seeks to provide answer to every problem which is likely to arise during the spiritual journey.

It is generally recognized that there are three principal paths of spiritual journey, namely, *Jñāna* (Knowledge), *Bhakti* (Devotion) and *Karma* (Action). *Ġitā* recognizes all these three paths and points how to proceed to achieve the final goal of liberation. *Ġitā* recognizes Ācārya Śāṅkara's monism as well as the qualified monism of other learned thinkers like Rāmānuja. It also caters to *Karma Yoga* as propounded by thinkers like Gandhi and Vinoba Bhave. Those who

believe in the existence of some supreme authority which monitors and decides our destiny as well as those like Jains, Buddhists and Kapila's Sāṁkhya, who totally rule out any such supreme authority and completely rely upon the development of soul's power, would get inspiration and guidance from *Gītā*.

More important is the fact that *Gītā*'s teachings are not confined only to spiritual seekers because these teachings are useful in day-to-day problems of our practical existence also. This is because *Gītā*'s teachings have holistic and universal appeal. Thus those who treat *Gītā* as merely a Hindu scripture do so perhaps because they have not read its verses and have formed their belief from the fact that the followers of *Gītā* are mostly Hindus.

### **Setting symbolic**

While appreciating and understanding the teachings of *Gītā* in their proper context it should be born in mind the setting of the occasion of preaching contained in *Gītā* just when the large armies of both the sides were ready to fight in the battle field of Kurukṣetra seems to be only a poetic innovation to provide proper background as it is not possible to believe that such highly saturated philosophical teachings were conveyed for such long period of time in the battle field. Vyāsa, the author wanted to convey the message as to how the life should be lived in the midst of the dust and the din of our usual conflicts of day to day existence. He has therefore selected a situation in which each one of us is often placed. When a serious problem confronts in life, we are, many a time undergoing a trauma experienced by Arjuna. Through the verses of *Gītā*, Vyāsa teaches us the importance of mental equilibrium and how to achieve it. It is therefore understood by many learned commentators on *Gītā* that "war" and "Kṛṣṇa" referred to in *Gītā* are not the same as those involved in the battle field of Kurukṣetra where thousands of warriors had gathered from all over the known world to kill each other. In other words, these expressions are symbolic and represent the mental struggle, which we experience daily and the spiritual guidance which we have to receive from the Supreme Soul called "*Paramātman*". This view

gets full support from *Gītā* itself. Reference to last few verses of Chapter 3 makes it clear that our real enemies are “*Rāga*” (attachment) and “*Dveṣa*” (aversion) and therefore, being cured of selfishness and mental fever, one should fight against these enemies. Lord admonishes Arjuna to destroy the most powerful enemy in form of “desires” (*Kāmarūpaṁ*) by restraining his own self-interest<sup>1</sup>.

Admonishing Arjuna Lord Kṛṣṇa says, “Oh Bhārata cut as under your doubts which are born out of ignorance with the sword of knowledge, take refuge in Yoga and arise”.<sup>2</sup>

Again, how can it be said that *Gītā* admonishes us through Lord Kṛṣṇa to approve the mindless killing and bloodshed involved in every war when he repeatedly advises Arjuna to cultivate “*Samatva*” i.e. equanimity of mind and finally, like Mahāvīra, the greatest prophet of *Ahimsā* (non-violence), he says Arjuna that, “He alone sees, that “God” in himself is the same “God” in all that is, and that he hurts himself by hurting others.

Such a person sees the Supreme Lord equally present in all<sup>3</sup>. Thus we can truly appreciate *Gītā* only if we are able to appreciate its symbolic version.

### **Avatāravāda not accepted**

One more clarification about Jain perception is that the theory of “*Avatāra*” i.e. the descent of Divine on earth in human form to save the righteous and to destroy the evil, has no place in Jainism. As Jain Ācārya Umāsvāti puts it in his *Tattvārtha-sūtra* “The soul whose seeds of *Karma* are totally burnt, cannot have rebirth again, just as a burnt seed cannot sprout again”. The point is that after obtaining salvation the soul has no emotional attachment to the world, which is the real cause of ‘rebirth’<sup>4</sup>. This view is supported by *Chāndogya Upaniṣad* saying that the liberated soul called “*Siddha*” does not return back.<sup>5</sup> Describing the place of the “Released Soul, *Gītā* also endorses the view of *Chāndogya* and says: “That place is not illumined by sun or moon or fire. Having gone there one does not

return back. That is where I reside. “My place is there reaching which one does not come back.”<sup>6</sup>

Consequent to this belief Jainism would not proceed to appreciate *Gītā* verses on the ground that Lord Kṛṣṇa was an “*Avatāra*” though it would readily believe that Kṛṣṇa was one of the rare human beings who are destined to shape the cultural ethos of a nation and who are found born rarely and one in a thousand of years.

It is for this reason that to understand the core teachings of *Gītā* whenever Vyāsa puts certain words on the mouth of Lord Kṛṣṇa as suggesting that he is omniscient and omnipotent and that he pervades the whole universe, the reference is not to be taken as made to a human being named as Kṛṣṇa, the son of Devakī and Vasudeva, but to the Divine Power which rules the cosmic order. In *Vibhūti-yoga* of *Bhagavadgītā*, Kṛṣṇa says clearly that “He who knows me, the great Lord of universe, as one who is not born and is beginningless is released from sin.” As *Gītā* is a part of a great epic called *Mahābhārata*<sup>7</sup>, it was necessary to explain its philosophic contents through the mouth of one who was universally respected as the leader of the society.

### **Symbolic Background**

It is also necessary to understand the allegorical background of *Gītā* to make it more acceptable to the common man. For instance, the root of the word “Arjuna” is “*Rju*” which means one who is straightforward and un-ostentatious. Dhṛtarāṣṭra means one who sticks to kingdom. He is blind not only physically but also mentally as he is not able to see what the course of justice is. Kurukṣetra is the field of action because the root word is “*Kuru*” meaning by to do. The battle that is fought is one between good and evil, between light and darkness and the kingdom which was to be won only with the help and guidance of the Supreme Soul which is the Spirit and pervades the universe and which is the real source which attracts all things animate as well as inanimate, and is therefore known as “Kṛṣṇa”, the root of which is “*Ākṛṣ*” means to attract.

This is how a Jain would perceive the setting of *Ġitā* and *Mahābhārata*. I have touched some of the general trends of Jain perspectives of *Ġitā*. However, this article would not be serving its purpose if I refrain from referring to some main features of complete similarities between *Ġitā* and Jain philosophy.

### Features showing Complete Similarities

*BhagavadĠitā* has notable similarities<sup>8</sup> with some of the Jaina Literature like *Uttarādhyayana-sūtra*<sup>9</sup>, *Praśamarati-prakarana*<sup>10</sup> of *Umāswātī*, *Śāstravārttā-samuccaya*<sup>11</sup> and *Lokatattvanirṇaya*<sup>12</sup> of Haribhadra, *Padmapurāṇa*<sup>13</sup> of Raviṣeṇa, *Bharateśvara-Bāhubalī*<sup>14</sup> by Śubhaśīla etc. Similarly, throughout the verses of *Ġitā*, one finds copious references to Sāṅkhya philosophy of Kapila and all students of philosophy know about the closeness between Sāṅkhya and Jain philosophies, with the result that though there are some fundamental differences between Vedic and Jain approaches, the author of *Ġitā* has produced masterly synthesis of all contemporary thoughts, without making any direct reference to either Jainism or any of its contemporary religious doctrines of Buddhism or atheistic philosophies such as “*Ājīvakas*”. This suggests that *Ġitā* might have been composed before the advent of Mahāvīra and Buddha when Sāṅkhya of Kapila dominated the field of philosophy. The fact however remains that wherever *Ġitā* has approved Sāṅkhya doctrines it has automatically approved Jain doctrines also because of the close similarities between these two. Main features which are common between Sāṅkhya and Jainism rule out the notion that there is some independent authority called “God” who has created this universe and who monitors all its events. The question which then arises is: If there is no God to manage these universal affairs, how these huge phenomenal affairs are systematized? The answer provided by Kapila’s Sāṅkhya is that this is an automatic play of “Puruṣa” and “Prakṛti.” Puruṣa means a dynamic force called Supreme Soul, which is never born and which exists in eternity and Prakṛti consists of lifeless material elements and has inherent power of evolution having three “*Guṇas*” (attributes) called “*Sattva*” (good), “*Rajas*” (active) and “*Tamas*” (bad). This Prakṛti is also



eternal. Puruṣa, the dynamic force, supplies its energy to Prakṛti which acts according to the dominance and variance of its *Guṇas*. This is how the universal affairs are going on. According to Kapila's Sāṁkhya, even though Puruṣa supplies its dynamic power to Prakṛti to act, it remains uninvolved (called "Kūṣastha") in the fruits of action.

According to Jainism the universal mechanism is the result of the inter-play of "Jīva" (Soul) and "Ajīva" (Non-Soul-lifeless matter). The action which is thus produced has its own reaction. However, according to Jainism individual soul cannot remain aloof as it was its supply of dynamic power which resulted in a particular action.

It is thus clear that but for the involvement or non-involvement of soul, the approach of Sāṁkhya and Jainism for the explanation of universal affairs is practically the same. Therefore, wherever *Gītā* refers to some Sāṁkhya doctrine, that reference can be treated as made even to Jainism, also.

*Gītā* directly supports the Jain view that there is no outside authority called "God" when it maintains that:

*Na kartṛtvam na karmāṇi lokasya sṛjati prabhuh/  
Na karmaphala saṁyogaṁ, svbhāvastu pravartate//*<sup>15</sup>

or

*Nādatte kasyaicitpāpaṁ na caiva sukṛtaṁ vibhuh/  
Ajñānenāvṛtaṁ jñānaṁ tena muhyanti jantavaḥ//*<sup>16</sup>

It means that "God does not Himself do anything, nor does He create actions of other people. He also does not create contact with fruits of action. All this happens by itself. It further says: "The God takes neither merits nor demerits of anyone. Beings are deluded as their intellect is covered by ignorance." Thereafter in verse 16 *Gītā* says: "But to those whose ignorance is destroyed by the knowledge of "SELF", such knowledge reveals the Supreme Soul just as the sun reveals everything." These verses do not deny the existence of "God" but they do suggest in very clear terms that God does not monitor human affairs, and that all this "happens by itself".

According to Jainism these variegated happenings which we witness in our life are the result of actions and their inevitable reactions which do happen by themselves.

Though Jainism does not believe in God as an external force, it does believe on “Godhood”. It says that our own soul (Jīva or Ātmā) has all the qualities of omniscience and omnipotence. These qualities are shadowed by its association with “*Karmas*” caused by passions like anger, pride, deceit and greed etc. Therefore, according to Jainism our efforts should be directed to make our soul free from the association of *Ajīvas* (karma, in Jainism *karma* is considered as *jaḍa* (*ajīva*) or non-soul). When this is done the Self obtains its inherent godhood. Thus according to Jainism you are your own cause and your own effect and that is why by your own efforts and exertion you can reap good and bad results, and you are not subservient to any outside authority. Finality is your own potential. *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* supports this when it says: “Whoever worships God as other than the SELF”, thinking “he is one and I am another” knows not. Even *Gītā* recognizes this truth when it says “*Īśvaraḥ sarva bhūtānām hr̥ddheśearjuna tiṣṭhati*”<sup>17</sup> i.e. “Oh Arjuna, God sits in the heart of every being.” Jains would say: “*tataḥ kṣīṇa caṭuṣkarma prāptoḥkākhyātasamyama-bīja-bandhana nirmuktaḥa sanātkāḥ Parameśvaraḥ*”<sup>18</sup> meaning, “When all *karmas* (actions) are annihilated, one becomes God” - *Sayala-viyappaham tuṭṭāham siva-paya-maggi vsantu*.<sup>19</sup>//

This importance of SELF, as given by Jainism, is recognized by the verses which follow the above referred verse 16. For example verse 17 of this chapter of *Gītā* says, “Those whose intellect is absorbed in “That”, their SELF being, “That”, remaining established in “That”, one obtains his Supreme goal. Such persons reach the place from where there is no return as his sins are destroyed by knowledge.” Similarly verse 21 says, “With the SELF unattached to external contacts, one finds happiness in SELF as he has achieved union with Brahman and enjoys eternal bliss. Here Jainism maintains that transformation of *Ātmā* into *Paramātmā* is the ultimate goal of

soul, but the soul maintains its separate entity. It does not merge into Brahman or any Super entity as Vedānta holds. Verse 26 echoes the same sentiment when it says, “Those wise men who are free from lust and anger and who are in complete control of their mind and have realized ĀTMAN find oneness with the Absolute everywhere around him.”

Chapter 13 is another chapter which directly propounds the Jain philosophical concepts. It is titled “*Kṣetra-Kṣetrajñā-vibhāga-Yoga*” “*kṣetra*” means “field” and “*kṣetrajñā*” means one who knows and understands this “field”. During the course of our soul’s journey on the path of spirituality one has to train his body which includes also our mind. Therefore this body is the field through which spiritual progress is to be made. If this is so, we should know how body and mind function. But who is the “knower”? The knower is our Soul<sup>20</sup>. Therefore, our spiritual journey requires full understanding of our body, mind and soul. Body and mind are identified by Jainism as “*Ajīva*” while Soul is identified as “*Jīva*”. In this chapter they are referred as *Kṣetra* and *Kṣetrajñā*. In this chapter therefore the author of *Gītā* discusses how he soul progresses with the knowledge of its interaction with non-soul which is known as *Ajīva*- here identified as *Kṣetra*.

The main difference between Sāṃkhya and Jainism is that while Sāṃkhya contends that Puruṣa (Soul) remains unaffected even though it supplies dynamism to Prakṛti, Jainism believes that as soul is the supplier of its dynamism it cannot remain aloof and unaffected by the result. But for this difference, the rest of the philosophical approach of both is the same. Thus the whole of the chapter 13 of *Gītā* accepts the Jain approach.

### References :

1. *Indriyasyendriyasyārthe rāgadveau vyavasthitau/ Tayorna vaśamāgacchetau hṛsya paripanthinau// Bhagavadgītā- 3.34*
2. *Evam buddheḥ param buddhvā sarṁstbhyātmānamātmanā/ Jahi śatruṁ mahābāho kāmrūpaṁ durāsadaṁ// Bhagavadgītā-3.43*

3. *Bhagavadgītā*- 13.28-29
4. *Dagdhe bīje yathā, tyantam pradurbhavati naṅkuraḥ/ karmabīje tathā dagdhe narohati bhavāṅkurḥ// Samatvayoga*, Dr. Pritam Singhvi, Navadarshan Society of Self Development, Ahmedabad, 1996, p.307
5. *Sa khalvevaṃ vartinyāvadāyusaṃ Brahmālokambhisampadyate na ca punarāvartate na ca punarāvartate/, Chāndogyopaniṣad*, 8.15.1
6. *Bhagavadgītā*- 15.6
7. *Bhagavadgītā* is part of *Bhīṣmaparva*(verses- 23<sup>rd</sup> to 40<sup>th</sup>) of *Mahābhārata*.
8. See, Dr. S. P. Pandey's article on ' *Bhagavadgītā* aura Jaina Sāhitya' appeared in 'ŚRAMAṆA', Vol. LX, NO. II-III April Sept. 2009.
9. *Uttarādhyayana-sūtra*, Verse 32.100 (with *Gītā* 2.64); 20.37 (with *Gītā* 6.6); 25.33 (with *Gītā* 4.13); 32.99 (with *Gītā* 5.10); 19.90 (with *Gītā* 14.24); 23.58 (with *Gītā* 6.34); 9.40 (with *Mahābhārata Śāntiparva* 287.5); 9.49 (*Mahābhārata Anuśāsanaparva* 93.40).
10. *Prasamarati-prakarāṇa*, Umāsvāti, verse 241
11. *Śāstravārttā-samuccaya of Haribhadra*, Verse 76
12. *Lokatattvanirṇaya of Haribhadra*, Verse 52, 53, 77, 81, 83, 88
13. *Padmapurāṇa of Raviṣeṇa* Verse 11.204, 11.205
14. *Bharateśvara-Bāhubali* 6.30
15. *Bhagavadgītā*- 5.14
16. *Ibid*- 5.15
17. *Ibid*- 18.61
18. (i) *Tattvārthādhigama-sūtra*-5, Raichandra Jaina Shastramala, Parama Shruta Prabhavak Mandal, Bombay-2. V.S 1989.  
(ii) *Kṣīṇakarmakṣayo mokṣaḥ, Tattvārthādhigama-sūtra*-10.3
19. *Sayala-viyappaham tuṭṭāham siva-paya-maggi vsantu/ Kamma caukkai vilau gai appā hui arahntu// Paramātmaprakāśa*, Yogindudeva, 195  
(ii) *Ibid*- 201
20. *Bhagavadgītā*- 13.2

# DISCUSSION ON FREUDIAN AND JAIN CONCEPT OF DREAM

Dr. Samani Ramaniya Pragya

---

## Introduction

*According to Psychology, dreams come into existence due to the hidden unconscious wishes repressed lying in unconscious mind. It takes us directly to the dreamer's unconscious impulses that determines one's nature, directs behaviour and generates emotions. Jain Āgamas have ample references of dreams and their interpretations. Vyākhyāprajñayapti refers to seventy two dreams. Freud, the famous psychologist had made a serious study on dreams. But the origin, function, sources, types and approaches are different in both Jain Philosophy and Freudian psychology. The author of the article has touched some of the aspects of dreams and has compared it with Freudian notion of dreams. The author deserves to complement for approaching such a novel and uncommon subject. - Editor*

The dream theory has a vast history. There are various cultures and religions where dreams were understood in some or other way or we can say almost all the cultures have certain myths, stories, rites and rituals or some sacred or profane ideas regarding dreams. The study of dreams has expansive scope and has been studied with worldwide extension. All over the world fascinating facts about dreaming can be found whether it is on the cultural and traditional ground or spiritual and religious platform and even in historical and mythological records. Every aspect of human life has an impact of symbolism and dreaming to some extent. There are thousands of myths, folk stories and cultural beliefs go on informally among people without attaching any reasoning or reflection or critical view on them. It is our spiritual and empirical experience that there is existence of dreams at least on individual level. We may hope that in future major research projects would work on dreams and explore subtlest facts regarding dreams. The mythological issues, the religious beliefs, the divinity attached to dreams, astrology and dreaming and

dreaming in relation to their effects on several natural systems and life, need to be understood well. At present the available facts regarding dreams have two major cabinets. One is dealing with its spiritual or mythological aspect and another is exploring empirical psychological studies on dreams.

Ancient aspect of dreams which adopts the former method of dream interpretation and modern outlook of dreams which applies to the latter one. These two are wide and large compartments comprising multiple ideas that are contradictory or complementary and we can also say different from each other. To thread them all and to arrange them into a single chain of ideas is quite a difficult job but to look at them or study those on inter-disciplinary ground and the comparative reflection may give some new model of dream theory. In the article, two pioneer studies on dreams are taken, from two foundational grounds, one from an ancient domain i.e. Jainism and another from a modern age study i.e. Sigmund Freud's work. To study both in close observation reveals many insights to the researchers. Few of such insights are to be discussed in this chapter. Although this will function just like a sample how the two branches flourishing in a great distance of time and place interpret dreams. The influences that work behind are more important to study apart from the interpreter's way or method of interpretation. There can be two factors that work behind any interpretation, such as -

- (1) Influences on the interpreter,
- (2) Methodology of interpretation.

### **Influences on the Interpreter**

It is the ground on which the interpreter is standing, make a pattern of interpretation. The interpreter interprets according to that pattern. The influences may be from his cultural background, his environment, his genes, his way of life etc. there can be another system of interpretation for others to study them in connection to each other which is important. It is similar to what Wittgenstein called 'language game'.<sup>1</sup> It can be well understood by this theory that there will be

some or other common factors, which is shared by different games. The concept of *language game*<sup>2</sup> holds that among different games, there are some common factors. Similarly every language too has its own syntactic and semantic rules and one has to follow them to communicate successfully or man consciously or unconsciously follows those rules and regulations. A pattern of language is set in the mind of the user of the language which makes him to understand the intention of the speaker having similar pattern. Freud himself has said that "It would certainly be of great psychological interest if all these dreams were recorded and it will easily be understood how much we longed for sleep, since it could offer each one of us everything that he most eagerly desired".<sup>3</sup>

The Freudian and Jain interpretation of dreams is an example of such interpretation. Both look just opposite to each other because one provides entirely an ancient touch to the dreams and its interpretation and the other is purely empirical and experimental one. Although Freud's modern outlook had also gone through the ancient myths, folk lore and cultures. He studied them and tried to give shape to some of his ideas on the basis of ancient beliefs and literature. For e.g. the concept of *Eros a Thanatos*, the *Oedipus complex* and *Electra complex* etc. are derived from those sources. Still it can be said that he implied all those things just to give strength to his basic theories and ideas. Freud's approach is clinical and descriptive.<sup>4</sup>

### **Methodology of Interpretation of Symbolic Dreams**

The second point of difference is the methodology adopted for interpretation. Freud and Jain both have a very different approach to the interpretation of dreams. Jainism is an ancient religion and philosophy and obviously it had no experimentation lab and research methodology similar to that of Freud, which had known and applied in his writings. Empirical studies done by Freud have revealed many unknown facts regarding the basic components of dream, functioning of mind, process of dreaming and dream symbols. Freud had studied dreams to understand the basic human nature and experimented upon

his subject with a view to study functioning of human mind for treating its abnormalities. Hence he grasped from his subjects the causes of neurotic behavior, which were reflected in dreams to some extent. This in turn also helped to understand the mind's working. His methodology was commonly known as psycho-analysis, which previously was called by name talking cure, in which free association method was applied.

In ancient times, they used a 'dream book'<sup>5</sup>, which had various dimensions to study the dreamer and dream objects to interpret a dream. For example, the zodiac sign of the dreamer, the date of birth, the day, month, astral condition, time, hour, and cause of the dreaming. It was considered that the dream objects cannot be interpreted excluding other factors functioning around the dreamer. Hence it was a complex study and needed a great proficiency in interpreting dreams. Although that science is almost turned fade today and we find only few books that deal with such facts but not very lucidly. In Jain *Āgamas* - the primary books of Jainism, have an account of dream interpretation. It states that if such and such symbol reflect to a particular queen etc. it results in that particular meaning but why that particular meaning is derived is not found. Interpretation was made and they happened in reality as the historical account depicted. However, the proper source of interpretation of that period is not available. In post *Āgamic* period, many Jain literatures were authorized, in which meanings had been interpreted of numerous dreams which again have no reference to the source. Those dreams are other than the seventy two dreams as illustrated in the text *Bhagavaī*. In *Bhadrabāhu Saṁhitā*, it is written that *āgamas* have a very short account of dream symbols but few later *ācaryas* have dealt with the subject in detail.<sup>6</sup>

Freud goes to the past of the person through free analysis and referred back the meaning of the manifest content of the dream. He was confirmed for this idea because he treated many neurotics through this process of psycho-analysis. He came to the conclusion that the dreams have greater role to play in human life. Dreams can reveal



the hidden unconscious wishes that are repressed lying in unconscious mind. Those wishes are causes for neurotic behavior. Dreams can take us to that door of unconscious and make the hidden necessary data available for understanding the neurotic behavior and its causes.<sup>7</sup> Hence dreams have a significant role to play in human life. His famous proverb thus received a great fame i.e. 'Dreams are royal road to unconscious'.<sup>8</sup> It takes us directly to the dreamer's unconscious impulses that determines one's nature, directs behavior and generates emotions.

Now, an effort can be made to see how these two branches of knowledge advocate the truth regarding the basics or foundation of human nature and a popular question on Freud 'Can man come out of distressful situation?' would be tried to answer according to Jain view.

#### **Analysis of Freud's View from Jain Point of View**

As the paradigm shifts, theories conceptions and outlooks also get shifted.

**TABLE: Basic Assumptions of Human Nature**

S. No	Subject	Freudian Concept	Jain Concept
1	Human Nature	Psycho-biological	Spirituo-psychical
2	Desires	Is in the nature of self, cannot be controlled	Non-self , can be controlled
3	Basic instinct	Sex	Possession
4	Cause of Conflict	Repression	Mohanīya Karma
5	Primitive Mind	Cannibalistic, Narcissistic incestuous	Contented

6	Religion	Opium, neurosis	Path to liberation
7	Civilization	Harmful	Non-necessarily harmful
8	Dream of Innocence	True dreams	True dreams

On these basic assumptions, both differ radically. For Freud, self is distressed and has no way to escape discontent unto death and for Jainism soul is basically pure and its pure form can be achieved by spiritual upliftment. The ultimate aim of human life is to attain that liberation. Differing mainly on this point, further problems can be understood as where the path that blocks for Freud is open for Jainism.

### Some Important Comparisons

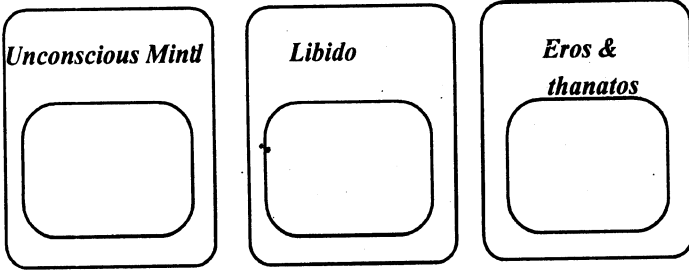
The origin, function, sources and types of dreams and many more things are just different in both the fields. On one hand, Jain philosophy has many abstract phenomena as beliefs in background i.e. belief in existence of soul, belief in *karma* (record of past deeds giving result in future), belief in transmigration of soul and belief in scriptures on other hand in Jainism, the nature of soul or the self is just different. Hence, philosophy of Jain and philosophy of Sigmund Freud standing at the base, makes the difference and creates difference in interpretation of dream symbols. Few of the points, which are inalienably attached to dream theory, must be understood well with difference in both the schools.

### Unconscious Mind and Mohaniya Karma

Freud's theory has interpreted the dreams basing mainly on the theory of levels of mind especially the role of unconscious mind. The repressed desires in Jain terminology can be compared to *karma* (our past deeds records). They are at the deepest level of the self may be as the unconscious mind is and are intimately related to the soul. According to Jainism, soul has multiple functional faculties and one of them is mind. Thus the unconscious mind of Freud can be compared to the *karma* that resides in the soul.

Jainism does not speak about the three layers of mind. So the classification of three levels of mind can be said that they have facilitated to understand the mind well. But Jain mind concept doesn't have such capability to keep hidden *saṃskāras* stored. It simply works as other sense organs. It acts upon the data supplied by sense organs and sends them either to soul through psyche, and gets engaged with other incoming data. Thus, it is absolute consciousness that keeps the impressions, or in Freudian terminology repressed material and also the control over dream object. The *Eros* and *Thanatos* can be compared to the two aspects of *Mohanīya* karma i.e. *rāga* and *dveṣa*. For Freud *Eros*, the *rāga* stands for attachment, and the *dveṣa* stands for aversion or destructive instinct. So, we can hold that the *libido* energy as *karma*, the unconscious mind as soul and the desires as the outcome of *mohanīya karma* or *Kārmaṇa-śarīra* which can be held as an external add-ons that has defiled the self/psyche. The whole mechanism of dream is somehow related with the concept of consciousness and the theory of *karma* in Jainism.

From Freud's analytic point of view, desires or repressed desires cannot be renounced but if we reflect upon the Asian culture and philosophy, the main purpose of religion is renunciation or liberation from the desires. Hence the whole practice of spirituality is based on the renunciation since it believes in such liberation from desires as the end of life. Although, both Freud and Jainism believe in past impressions, Freud calls them as repressed desires and Jainism as *karma* (record of our past good or bad deeds). For Freud what unconscious mind is, that can be compared to the *karma* or *kārmaṇa-śarīra*<sup>9</sup> of Jain philosophy. *Libido* can be compared with *Mohanīya karma*, the main agent behind the production of desires. As *Eros* and *Thanatos* are functional aspects of *libido* similarly *rāga* and *dveṣa* are two prominent aspects of *Mohanīya karma*.<sup>10</sup> This can be shown through a figure as following:



Going through Freud's *Interpretation of Dreams*, we come across various facts regarding the dreams and keeping those facts in mind if we look into Jain interpretation of dreams, we find many new insights opening unto us. In short, the method of writing each chapter of *Interpretation of Dreams* has a newer insight. Several issues will be taken one by one and scrutinized. In the first chapter of *Interpretation of Dreams* Freud has dealt with the scientific literature on dreams.<sup>11</sup> It has been found in these literature that every study on dreams has included sleep, waking state and their relation to dreams. Hence it is essential to have a reflection on this topic.

### Sleep, Waking State and Dreams

Sleeping and dreaming are without question important aspects of human life. *Homo sapiens* are creatures those sleep or dream. It is a part of the life that a human being would sleep and dream. Despite the fact that we all believe in sleeping and dreaming, there are empirical as well as conceptual reasons for formulating different concepts providing different analysis to sleep and dream.<sup>12</sup>

Dreaming and sleeping are not the same. No one dreams all the time they sleep, hence among various states of consciousness, we find one is sleeping and other is dreaming. Sleep is necessary for dreaming. It has a causal relation with dreaming. On the other hand, Freud say function of dreaming is to restore sleep. The root word '*Iśvapaṅka Śayane*' in Jainism itself actually mean 'to sleep'. Then the meaning is extended to dreaming because it has a close connection with dreaming. Hence for sleeping and dreaming single root is used in Sanskrit language as well as in Jain literature.

The *Sāṃkhya* and *Upaniṣadic* literature depicts the relation of these two on three stages i.e. waking, sleeping and dreaming with an illustration of pendulum.<sup>13</sup> Consciousness oscillates between these three stages. The similar is the case with Jainism but the difference between the sleeping and dreaming state according to Jainism is due to the difference in the karmic influence. The rise of *darśanāvaraṇīya karma* is responsible for sleeping and the rise of *mohanīya karma* is responsible for dreaming. The *Darśanāvaraṇīya karma*, contacts the consciousness from the senses and other cognitive faculties. Perception of any kind from outer world comes to an end. Then *Mohanīya karma*, with any other types of *Karmas* finding the favorable condition i.e. semi-sleeping state, produces the dream images on the screen of mind. “Dreams are outcome of sense data,” is believed by all. But there are different sources for dreaming in different traditions.

Types of dream as mentioned by Freud, divine prophecies, previsions and symbolic<sup>14</sup> are also acceptable to the Jain philosophy because it believes in all the three. But Freud has no account of inauspicious or auspicious dreams. The reason may be that he did not concern much about the prophetic dreams. His study was mainly dealing with the past of his persons. He himself had mentioned that he is not dealing with the ancient or non-scientific outlook on dreams. His was an empirical study.

Although, there are various views regarding the relation of dreaming and waking state as Freud referred them in his book *Interpretation of Dreams*.<sup>15</sup> Altogether they can fall under two categories.

(1) Dream is a kind of cut off from waking world.

(2) Dream is a continuation of waking experiences on mental level. Jain's belief holds both. It holds although in sleep we are cut off from material world because material senses stops working but inner senses or the capacity of senses of perception is not hindered. Mind is also called as the master of senses or pseudo-sense, it remain active while dreaming.

### Sources of Dream

According to Jain philosophy, *karmas* are there in the self or soul and supply material for dreaming. *Karmas* have the potency of giving dream reflections but it has to deal with all past and present experiences and reflect dreams according to the time, place, mode and situation, which the dreamer is undergoing. Altogether, both believe that dreaming is accompanied by sleep, and mind has a major role to play in dreaming.

*Dravya* (substance), *kṣetra* (place), *kāla* (time) and *bhāva* (context) has important role to play in each event.<sup>16</sup> Even upon dream reflections they have their hold. Freud writes in *Interpretation of Dreams*, that content of a dream is invariably more or less determined by the personality of the dreamer, his age, sex, class, standard of education and habitual way of living and also the events and experiences of his whole previous life.<sup>17</sup>

He has also talked about sources of dream which is very similar to the Jain sources of dream i.e. we dream of what we have seen, said, desired and done. These sources are found in the list of sources of dream in *Viśeṣāvaśyaka Bhāṣya*.<sup>18</sup>

Philosopher J.G.E. Mass (1805) writes “experience confirms our view that we dream most frequently the things on which our warmest passions are centered and this shows that our passions must have an important role in the production of our dreams.” Number of writers on the other hand, assert that elements that are found in dreams, which are derived from the last few days, before they were dreamt. Hence giving over weight to infantile wishes or experiences to be the dream sources is quite inappropriate because Freud himself writes that since dreams have material from childhood at their command and as well as all know that material is from the most past blotted out by our conscious faculty of memory, these circumstances give rise to interesting hypermnesic dreams. The content of the dream and the form of the manifest dream are closely interrelated. Either can be used as a means of representation in dreams.<sup>19</sup>

The Jain source of dreams includes 'Anūpa' as a source which means area with surplus water. Freud had not clearly mentioned about any such source but he believed in the role of environment and out of four kinds of sources that he referred to external sensory stimuli as a source. The deity's role as a source of dream has also not been in Freud's study of dreams. Previous experiences, waking memory, earliest impression of childhood, recent experiences indifferent materials-all make the material or become sources of dreams.

Regarding typical dreams, Freud has discussed about few dreams, like the dreams of climbing, falling, death, flying through the air, dream of water, and examination etc. as the typical one. By 'typical', he means the dreams that often occur to many people.

The fourteen auspicious dreams seen by the mothers of twenty four tīrthaṅkaras or other great men can also be taken under typical dreams. Since they are seen by all the mothers of great men and few of them are more probable to occur like dream of 'lion' or 'ox' is so common in mythological stories that every women who conceives the future hero of the play or story on history in her womb sees the dream of lion or ox etc. and becomes happy that she is possessing great soul in her womb. But it cannot be held necessary that such dream always carry a special meaning. They may also mean differently. They can be included in typical kinds of dreams.

Regarding the dreams that occur to mothers of tīrthaṅkaras or similar other dreams, Freud's has given no such conception. Although he mentioned in *Interpretation of Dreams* that even Freud's mother had dreamt a dream when Freud was in her womb which was read as predictive dream and it was interpreted that the being in the womb would be some great personality.<sup>20</sup> Most probably such concepts cannot be dragged to empirical study hence Freud kept such issues in margin.

### **Dream Work in Freudian and Jain Theories**

Freud has explained the dream work very exclusively. The appearance or perception of images or events or sounds, and many other experiences that takes place in dream when all external senses are in sleeping mode,

is just a thrilling fact and generate curiosity in general as to how these dream images are perceived in sleeping condition? The Jains have not dealt with any systematic deliberation on dream work. Freud has given it under four stages and explained them very lucidly. Since Jains have no conception of unconscious mind, the theory of *karma* works on that place? It holds the past impression impregnated in *karma*, what Freud calls infantile desires is actually in Jain view of *karma*. Although an infant has his own world and get impressions from the outer world by which it is deeply influenced. These desires are limited but infinite such impressions are there in *kārmaṇa-sarīra* which also comes up in dreams and forms different dream images. Hence *karma saṁskāras* (impressions of karma) includes both infantile desires of present birth and the deeper impressions of several previous births. Both together make strange appearance in dreams.

In Jainism, appearance of dream images in dreams has no explanation of dream work. Consciousness itself creates it and perceives it through *citta* (psyche), which is the master of mind and manages the functioning of mind. In Jain literature psyche and mind are not synonymous words. They have been explained differently in characteristics and also in functioning.

### **Sexuality in Wishes and Dreams**

The influence of organic somatic stimuli upon the formation of dreams is almost universally accepted. On the basis of the theory of somatic stimulation, dream interpretation is thus faced with special problem of tracing back the content of a dream to the organic stimuli, which caused it.<sup>21</sup> Weygand (1893), asserts of all dream images that their primary causes are sensory stimuli and that only later do reproductive associations become attached to them. Some others are of opinion that in most dreams, somatic stimuli and psychological instigator work in cooperation.

There is one particular mental mis-adaptation which is of crucial importance in the causation of mental illnesses as well as dreams and that is what Freud called repression. In a situation of extreme



mental conflict, where a person experiences an instinctual impulse which is sharply incompatible with the standards he feels he must adhere to, it is possible for him to put it out of consciousness, to flee from it, to pretend that it does not exist. So repression is one of the so-called 'defense mechanism',<sup>22</sup> by which a person attempts to avoid inner conflicts. But it is essentially a withdrawal from reality, and that is doomed to failure because what is repressed does not really disappear, but continues to exist in unconscious portion of the mind. One can neither get rid of it nor lift it voluntarily. Hence problem continues. Freud locates the decisive repressions in early childhood and his emphasis on sexuality also proves them to be basically sexual.<sup>23</sup>

Freud opines that most of our dream symbols are sexual by nature. Actually he is aware that he should not give unnecessary importance to the sexual aspect of dreams but his study revealed to him what he has written in the '*Interpretation of Dreams*' as 'The more one concerned with the solution of dreams, the more one is driven to recognize that the majority of the dreams of adults deal with sexual material and give expression to erotic wishes.' A judgment on this point can be formed only by those who really analyze dreams, that is to say, who make their way through their manifest content to the latent dream thoughts, and never by those who are satisfied with making a note of the manifest content alone. Let me say at once that this fact is not in the least surprising but is in complete harmony with the principles of my explanation of dreams. No other instinct has been subjected since childhood to so much suppression as the sexual instinct with its numerous components, from no other instinct are so many and such powerful unconscious wishes left over, ready to produce dreams in a state of sleep. In interpreting dreams, we should never forget the significance of sexual complexes, though we should also, of course avoid the exaggeration of attributing exclusive importance to them (1909).<sup>24</sup> Hence Freud never said that all the symbols require a sexual interpretation. Regarding this he had alarmed readers very clearly. He has also mentioned that most

innocent dreams may embody crudely erotic wishes. Sometimes analysis leads back to wishful impulses, which are unmistakably sexual.<sup>27</sup>

The main difference between Freud and Jainism is found that where Jain accounts of dreams do not always consider dreams to be an outcome of repressed desires like in case of mother's dreams, we cannot necessarily hold them to be the result of repressed desires. There is no discussion regarding the repression of dreams found in Jainism but there is a mention of incessant production of desires. The past experiences do reflect in dreams, but those past experiences are not always repressed ones. Any experience that had an influence on our mind may reflect in dream other than that the environment, *karmas*, place, time etc. also influences the dream objects. Hence it is not always the repressed desires that reflects in dreams. The 'repressed desires' can be included into *Anubhūta*, *Dṛṣṭa*, *Śrūta*, *Cintita*-past experiences as a dream sources but there are other sources also which are equally important as we have discussed in sources of dreams in Jainism. Freud's theory is centralized only to the aspect of wish fulfillment in dreams, which is not completely the objective of dreams in Jainism.

Although, there is an account of manifest and latent content in both the dream interpretations but one is the outcome of past experiences or repressed desires and a theory of wish fulfillment while the other is much concerned with the future of the person. It predicts the future of the dreamer. These dreams remaining totally independent of past experiences depict future events in actual or symbolic codes that are ultimately translated to understandable language by dream interpreters. As in the case of the mothers who have conceived the divine soul. Although dreams of pregnant women are not yet been examined independently on experimental basis but still we find such illustrations in abundance in Jainism. Hence we can presume the importance of the dreams of a pregnant women and experiment may bring up new truth to light hidden behind till now.

### **Wish Fulfillment in Dreams**

The Freud's account of repressed desires as a cause of dream is also not completely accepted in Jainism. Freud experimented on the people who were having some kind of pathological or mental disorder and also in some cases normal dreamers. But still his reading was not limited to certain time and certain experimented people. So the facts of the far past and far future were not included in his studies. So what all he found in his system studies, he reached to the conclusion that dreams are the outcome of repressed desires and its functions is wish fulfillment. Jainism believes in wish fulfillment theory as we find in the case of *Styānardhi-nidrā*,<sup>28</sup> but there are no illustrations, which admits the direct wish fulfillment in dreams. Moreover, Freud's latent content is collected from only the past experiences but Jainism speaks about dream symbolism much in context of future predications. So the scope of income of latent content is much widened sphere. As we see in the types of dreams in Jainism only first four types are related to the past of the person. All others are from many other sources. Hence, so along with repressed desires there can be many other sources of dreams.

### **Innocence and Dreams**

Freud said that the children possess very innocent mind thus they reflect in their dreams the object in undistorted form because they do not know how to repress their desires. Whatever he likes, he demands unaware of social limitations. If the desired object is not made available to him it would reflect in his dreams. He enjoys and fulfills his desires through his dreams. Here, the necessary condition for the appearance of direct dreaming is innocence. Even in Jainism, very parallel fact is found where Lord Mahāvīra says to his disciple that the monk or a person who is very pure in his conduct, a very restraint and humble person, (which means who is innocent like a child) sees the direct dreams which comes true in as it is form i.e. he visualizes true dreams. In Freud's expression of true dreams is confined to children's dream but the main cause is 'innocence'. Depending on this quality he confined true dreams only in case of

children's dream because he found innocence there very overtly and although he did not negate for the possibility of direct dreams in adults. Since he believed that no adult can be innocent in the true sense because he knows to hide back his wishes. But Jainism doesn't agree completely with this. In *Bhagavatī Sūtra*, it is said that a person of conduct, a very well restraint, meditating monk can see the true dreams. The main quality required for true dreams is innocence or purity of heart of the person. If a person is pure at thought and action and has good conduct has the tendency of getting reflection of undistorted or undisguised dream objects. Freud did not speak to that level. He paused at sophisticated behavior of adults, which results in distorted dream buildings.

Thus, the mechanism of connecting the dream symbol to its real meaning is not absolute in any of the system. There are various possibilities to connect them. Moreover, validity is uncertain because it depends on the interpreter and the system, how he interprets them.

Hence, although Freud's observation was correct from the point of view of his study of psycho analysis he found religion useless in psychological development and in mental treatment. Actually there is another way to deal with this problem and reach to point where human dignity is restored. Jain *āgamas* show the path to move ahead where Freud stopped. The two but most important schools i.e. philosophy and psychology are complimentary to each other and assists to find a way for renunciation and attainment of ultimate goal of human race.

#### References:

1. Ludwig Wittgenstein, *Philosophical Investigations*, -The German text with a Revised English Translation, Trans. by G. E.M. Anscombe, Blackwell Publishing, MA (USA), (1<sup>st</sup> edn. 1953, 2<sup>nd</sup> 1958, 3<sup>rd</sup> edn, 2001), 4<sup>th</sup> edn. 2005, p. 7.
2. W. T. Jones, *A History of Western Philosophy*, Vol. 5, Second edn. revised, 1980, p. 376.
3. Sigmund Freud, *Interpretation of Dreams*, Avon Books, 1998, p. 165.

4. T.C. Lethbridge, *Power of the Pendulum*, Arkana, Penguin Books, England (1<sup>st</sup> end. 1976), 1984, p. 7.
5. Sigmund Freud, *Interpretation of Dreams*, Avon Books, p.130.
6. *Bhadrabāhu Saṁhitā* by Ācārya Bhadrabāhu (II), p.16.
7. Sigmund Freud, *Interpretation of Dreams*, Avon Books, p.703.
8. *Ibid*, p.769.
9. *Jain Siddhānta Dipikā* of Ācārya Tulsi, Eng. Trans and Notes by Nathmal Tatia, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1995, p. 150.
10. *Rāgadvēṣaparīṇatirmohaḥ* ॥9/7॥, *Ibid*, p. 169.
11. Sigmund Freud, *Interpretation of Dreams*, p. 57-63.
12. Owen Flanagan, *Dreaming Souls-Sleep*, Dreams and the Evolution of Conscious Mind, Oxford University Press, New York, 2000, p. 71.
13. Radhakrishnan, *Principal Upaniṣads*, London, 1935, p. 697.
14. Sigmund Freud, *Interpretation of Dreams*, Avon Books, 1998, p. 38.
15. *Ibid*, p. 41.
16. *Ṭhāṇaṁ*, p. 324.
17. Sigmund Freud, *Interpretation of Dreams*, p. 42.
18. *Vīṣeṣāvaśyaka-bhāṣya* p. 203.
19. Alexander Grinstein, *Freud's Rules of Dream Interpretation*, p. 144.
20. Sigmund Freud, *Interpretation of Dreams*, Avon Books, 1998, p. 225.
21. *Ibid*, 71.
22. *Ibid*, 361.
23. Leslie Stevenson, *Seven Theories of Human Nature*, Oxford, University Press, New York, 1987, p.77
24. Sigmund Freud, *Interpretation of Dreams*, Avon Books, p. 431, 432.
25. *Ibid*, p. 432.
26. *Vīṣeṣāvaśyaka-bhāṣya* of Jinabhadraṅgi, p. 70.

### Bibliography

1. *Ācārāṅga Sūtram Sūtrakṛtāṅga Sūtram ca* - with the *Niryukti* of Ācārya Bhadrabāhu Svāmī and the Commentary of *Śīlāṅkācārya*, ed by Sāgarānanda Sūri Mahārāja, re-edited with appendices by Muni Jambūvijaya, Lala Sundarlal, Vol. I, 2.

- Jaina Agamgranthamālā, Motilal Banarasidass Indological Trust, Delhi, 1978.
2. *Ādipurāṇa of Jināsena*, Part 1, ed by Pannalal Jain, Bharatiya Jnanpith, New Delhi, 3<sup>rd</sup> edn., 1988.
  3. *Aṅgasuttāni*, ed by Ācārya Mahāprajna, Part II (*Bhagavaī*), Jaina Vishva Bharati, Ladnun, 1975.
  4. *Aṅgavijjā*, (*anonymous*), ed by Muni Punyavijaya, Prakrit Grantha Parishad, Ahmedabad, 2000.
  5. *Atharvaveda Bhāṣyam* (Kāṇḍa 6, 7, 8), Vishvanath Vidyqlankara, Ramlal Kapoor Trust Press, Sonipat, Haryana, 1<sup>st</sup> edn. 1990.
  6. *Āvaśyaka Niryukti* of Ācārya Bhadrabāhu, Part I, ed and trans. in Hindi by Damodara Shastri, Sohanlal Jain Grantha Prakashana, Ambala (Hariyana), 2010.
  7. *Bhadrabāhu Saṁitā* by Ācārya Bhadrabāhu (II), ed. and trans. by Nemicandra Shastri, Bharatiya Jnanapitha, New Delhi, (1<sup>st</sup> edn. 1985), 5<sup>th</sup> edn. 1999.
  8. *Bhagavaī*, (*Viāhapaṇṇatti*), ed. by Acarya Mahaprajna, with Prakrit text, Sanskrit Renderings, Hindi Translation and Critical Notations, Vol.-I, II, III, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun, 1994.
  9. Eliade, Mircea., *Patterns in Comparative Religion*, Sheed and Ward, New York, 1958.
  10. Freud Sigmund, (1856-1939), *Civilization and its Discontent*, trans. by David McLintock, Penguin Books, London, (1<sup>st</sup> edn. 2002), 2004.
  11. *Interpretation of Dreams*, trans. by James Starchey, Penguin Books, London, 1949.
  12. *Interpretation of Dreams*, Avon Books (An imprint of Harper Collins Publishers), New York, (1<sup>st</sup> edn 1965), 1998.
  13. *Moses and Monotheism*, trans. by Katherine Jones, Vintage Books, (a division of Random Books), New York, (1<sup>st</sup> edn, 1939), Renewed edn. by Ernst L. Freud and Anna Freud, 1967.
  14. *New Introductory Lectures on Psychoanalysis*, W.W. Norton, New York, 1933.
  15. *On Metapsychology*, Theory of Psychoanalysis, English trans. and ed by James Strachey and Angela Richards, Penguin Books, London, (1 edn. by Pelican Books, 1984), Reprint in Penguin Books, 1991.

16. *Outlines of Psycho-analysis*, Trans. by Helena Ragg-Kirkby, (with an introduction by Malcolm Bowie), Penguin Books, London, 2003.
17. Jung C.G., *Collected Works of C.G. Jung*, Vol.8 (*Structure and Dynamics of the Psyche*), Translated by R.F.C. Hull, Routledge and Kegan Paul, London, (1<sup>st</sup> edition, 1960) 2<sup>nd</sup> edn. 1969.
18. *On the Nature of the Psyche*, trans. by R.F.C. Hull, Routledge, London and New York, (1<sup>st</sup> edn. 1969), (1<sup>st</sup> edn. in Routledge Classics, 2001), (Reprint 2002, 03, 04- twice) 2006.
19. *Kalpa Sūtra* of Bhadrabāhu Svāmī, trans. and notes by K.C. Lalwani, Motilal Banarasiidass, New Delhi, 1979.
20. *Karma Prakṛti* of Ācārya Nemicandra, ed. and trans. by Hirlal Siddhanta Shastri, Bharatiya Jnanapitha Prakashan, Kashi, 1964. Riceour, Paul., *Freud and Philosophy*, trans by Denis Savage, Motilal Banarasiidass Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 2007.
21. Stevenson, Leslie Forster., *Seven Theories of Human Nature*- [Christianity, Freud, Lorenz, Marx, Sartre, Skinner, Plato], Oxford University Press, New York, 1987.
22. *Ṭhāṇam*, ed by Ācārya Mahāprajña, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1976.
23. *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya* of Jinabhadragaṇi with *Vṛtti* of Hemcandrasūri, Part I and III, Choukhambha Sanskrit Series Office, Varanasi, 2<sup>nd</sup> edn.1969.

\*\*\*\*\*

# ANUVRATA : A SOLUTION FOR WORLD PEACE

**Dr. Navin Kumar Srivastav**

---

*Amongst the most burning problems the world is facing today is religious fundamentalism, intolerance and open exercise of atomic powers. The world is now standing on the threshold of human catastrophe. Thus the question of peace, tolerance and harmony has become more relevant today than it was ever before. The author of the present article has tried to find a way out of maintaining peace and harmony on individual and global level as well through the Anuvratas, an important tenet of Jainism. - Editor*

Peace has been the one of the most desirables for human being in the History of mankind. We have ample references in the Vedic and pre-Vedic literature where man is shown praying for divine favours to obtain peace. *Yajurveda*<sup>1</sup> clearly depicts Ṛṣis praying for peace all around them when it says '*Dyauḥ śāntirantarikṣa' śāntiḥ pṛthavī śāntirāpaḥ śāntirośadhayaḥ śānti. Vanaspatayaḥ śāntirviśvedevāḥ śāntirbrahmaśāntiḥ sarva' śānti śāntireva śāntiḥ sā mā śāntiredhi.*

Today, the advancement of Science and Technology has succeeded to remove our religious superstitions on one hand but on another hand it has put mankind in havoc and complete catastrophe. Science has become terribly failed to overcome the passions and prejudices that human flesh is heir to. It has also shaken our mutual faith, faith in moral virtues as well as religious-spiritual values. The old social and spiritual values of life acting as binding force on humanity which were based on religious belief have been made irrelevant by scientific knowledge and logical thinking. Till date, we have been unable to formulate or evolve a new value structure, necessary for meaningful and peaceful living in society based on our scientific and logical outlook. Today, we



strongly rely on the atomic power as our true rescuer. For us human being is either a complicated machine or at least a developed animal, governed by his instinct and endowed with some faculties of mechanical reasoning. Thus, we have developed a totally materialism and selfish outlook<sup>2</sup>.

Undoubtedly science and technology have increased our knowledge of the universe and has conquered over the dreadful forces and many of the hidden secrets of nature. Advances in computer science and telecommunications have made it possible for all of us to have immediate access to one another and to the information and knowledge accumulated over many centuries. Satellites constantly orbiting in space provide us with a continuous view of every corner of the earth. The study of genetics has reached the point where the most basic building blocks of life have been revealed to us, presenting the possibility of conquering many diseases, aging and increasing the length and quality of life.

Development in science and technology has not brought only blessings to the mankind but the secular culture ushered in by science has broken the unity of existence. It has replaced co-operation and interdependence with fierce competition and the struggle for survival. It has ignored the Socratic teaching that knowledge is virtue and replaced it with its own paradigm that knowledge is power. The trend towards globalization that had the prospect of bringing about global peace and shared prosperity has instead greatly increased inequality, injustice and economic disparity and exploitation. The divinity of the human soul has been completely ignored and this has set in motion a chain reaction of alienation from reality, from nature and from our true self. We have lost sight of our highest aspiration of the unity of humankind through love, compassion, and democratic equality. The war-worm world is lacking in spiritual values, which are the most precious heritage of each and every great religion aiming at serving the humanity and uplifting the divine in man.

Fortunately the human society has been having amidst itself from

time to time the selfless divine souls like Mahāvīra, Gautama Buddha, Kṛṣṇa, Christ, Gandhi and Vinoba, who have left no pains to show us the path leading to peace, harmony and happiness. Among the most burning problems, the world facing today, religious fundamentalism and intolerance are the most crucial. R.N. Tagore rightly observed, "For man to come near to one another and yet to ignore the claims of humanity is the sure process of suicide."<sup>3</sup>

In the circumstances prevailing today the only way out left is mutual co-operation and co-existence among all religions of the world which have significant impact on human lives. Religious harmony and fellowship of faith among different religions is the first and foremost need of our age to cultivate world peace.

Now first of all we have to ponder over the nature of true religion. Religion can be found almost everywhere around us, influencing one's lifestyle and surroundings much more than we are aware of. We have ample definitions of *Dharma* in Indian Literature viz. *dhārayatīti dharmah, dhryate lokah anena iti dharmah, dhriyate lokayātrānirvāhārtha yah saḥ dharmah<sup>4</sup>, yato vā abhudaya niḥśreyaṣa siddhi sa dharmah<sup>5</sup>*, etc. which collectively approve religion as a binding force for the diverse nature and culture of human beings. That which works for the welfare of the human society is *dharmā*. When we think of religion we think of it as a very powerful instrument of spreading love, compassion, and harmony in the world. Religion is the commitment to a kind of quality of the life that purports to recognise a source beyond itself (usually, but not necessarily called GOD) and that issues in recognising fruits in human conduct (e.g. law, morality), culture (e.g., art, poetry) and thought (e.g. philosophy).<sup>6</sup> According to *Mahābhārata*<sup>7</sup> the role of religion is to ensure the welfare of living being and the true welfare of the mankind is to live in peace. Therefore, that which ensures the welfare of living beings, that which evolves peace, is surely *dharmā*. The learned Ṛṣis have declared that which sustains is *dharmā*.<sup>8</sup>

For a more complete definition of the word religion we have to examine two other aspects. How religion has affected man over the

centuries? and what is the true motivation of its leadership? Some would have believed that it has brought peace and harmony to the world and that its leaders are motivated by the service of their God. But it is not true about the every religion because there are many religions who do not believe in God.

Each and every religion has its own set of code of conduct and claims that he is the true advocate of world peace. Jainism being a prime religion of Śramaṇic tradition, has offered principles and ethics like five great vows (*mahāvratas*-non-violence, truth, non-stealing, non-possesion, and celibacy), five minor vows (*aṇuvratas*- *sthūla prāṇatipāta-viramaṇa*, *sthūla mṛṣāvāda-viramaṇa*, *sthūla-adattādāna-viramaṇa*, *svadāra-santoṣa* and *icchāparimāṇa*), non-absolutism (*anekāntavāda*), law of qualified assertion (*syādvāda*), doctrine of *karmas* and many more which could evolve peace and happiness in one's life and could be instrumental in maintaining peace worldwide.

In this paper I would discuss as to how the code of conduct set for lay devotees (*aṇuvratas*) can help us in maintaining peace at the level of individual and world as well.

In Jainism, the milder form of practice prescribed for a Householder is called *Aṇuvrata*. It is of five types called as-(1) Non-violence (*Ahimsāṇuvrata*), (2) Truthfulness (*Satyāṇuvrata*), (3) Non-Stealing (*Asteyāṇuvrata*), (4) Celibacy (*Brahmacaryā-ṇuvrata*) and (5) Non-Possession (*Aparigrahāṇuvrata*).

### 1. Non-Violence (*Ahimsā*):

The principle of non-violence or *ahimsā* is the first among *Pañcaśīla* of Buddhism, *Pañcaśīla* of Jainism and *Pañcaśīla* of *Pātanjala-Yoga*, the slight difference as one can see in nomenclature of this principle in each system is due to the difference in the language used in their scriptures. But the term '*ahimsā*' is the most popular among all. Non-violence has been emphasized by religious exponents, social reformers and political leaders and above all, it has been accepted as important from the point of view of one's own self. Thus it is

religiously, ethically, socially, politically and psychologically important and necessary. The instinct of love, compassion (*karuṇā*), furnishes the basis of *ahimsā*.

The term *ahimsā* has its origin in *himsā* 'himsi' in its root, which means killing or destroying or hurting a living being. And the opposite of it, is *ahimsā*, i.e., non-killing, non-destroying or non-injury.<sup>9</sup> Since *ahimsā* is a negative term it may be taken literally as purely negative in character, and can be inferred from it that *ahimsā* simply means not-killing, non-injury or non-destruction of living being. The positive side of it by way of protecting a living being is not connected with the moral principle of *ahimsā* and therefore it has no value in itself.<sup>10</sup>

Social behavioural aspect of Jain religion is marked by observance of non-violence. In *Ācārāṅga-sūtra*<sup>11</sup> Mahāvīra expounded, 'the worthy men of past, present and future will say thus, speak thus and explain thus; all breathing, existing, living and sentient creatures should not be slain, nor treated with violence, nor abused, not tormented.'

*Ācārāṅga-sūtra* begins with the instructions on non-violence and also how to prevent to each and every living being from violence.<sup>12</sup> Most of the *āgamas* are replete with full of the instructions of non-violence, i.e., the name of first lesson of *Ācārāṅga-sūtra* is *Śāstra-parijñā*. The meaning of *Śāstra* is the instrument or means of violence.<sup>13</sup> Also Amṛtacandra Sūri<sup>14</sup> defines *ahimsā* as the absence of attachment, passions etc. The observance of non-violence is of the form of non-origin of attachment and unchangeable law or tenet of the religion. Ācārya Pūjyapāda<sup>15</sup> and Ācārya Akalaṅka<sup>16</sup> also considered non-violence as the characteristic of religion.

### **The Positive Role of Non-Violence (Ahimsā) in World Peace:**

It will, thus, appear that the principle of non-violence far from being a negative percept as the term suggests in its practical application, is a positive principle of the farthest reach. It points to a wholesale transformation in the internal government of state as well as in their

mutual contracts to a revision of social and economic arrangements. It is a matter of the first importance that all institutional re-organisations be accompanied by a corresponding mental attitude, in short a corresponding outlook on life. Non-violence is the prime cause of maintaining the world peace. Because non-violence is the first step towards world peace. The cult of non-violence has taken quite a new turn in Jainism and has been threshed out with its minute detail.

### (2) Truthfulness (Satya):

Truth or *Saccam*, (Prakrit) as a positive term and '*Mṛṣāvāda-virati*' as a negative term have prominent place in Jainism. In Indian theory it is considered the true essence of the whole universe<sup>17</sup> and is even more profound than the ocean and more stable than Mount Meru. It is also conceived as God or *Bhagavāna*<sup>18</sup> as Mahatma Gandhi conceived. Apparently, it is the metaphysical truth understood as highly important in Jain scriptures. As a moral principle also it is considered very significant. It is said that those who have established themselves in truth acquire insurmountable fame; they are appreciated not only by human beings but also by gods.<sup>19</sup> Further it is said, "the ground under the feet of those who speak truth is rooted in right knowledge and right conduct becomes holy."<sup>20</sup>

Here again the way of truth is as straight as that of non-violence. There is a proverb that truth conquers (*Satyameva jayate nānṛtaṁ*). It is true if it means that truth or sincerity prevails in the long run. It is patent that a conscious effort at higher standards of truth is necessary both in national and international affairs. The higher the standards of truthfulness, the easier it would become to lift society from the present status to place of great reason and higher morality.

### (3) Non-stealing (Asteya):

It is obvious that such a social re-organisation postulates cordial and habitual respect on the part of every one for the right of every one else. This is the inner core of the third *aṇuvrata* named as *Asteya* or *Acaurya*. Literally, it only means abstinence from stealing, but the underlying spirit of this *aṇuvrata* is that one should not encroach

on the right of others but should always keep the social interest in view.<sup>21</sup> It needs scarcely to be pointed out that respect for the right of others is also an application of the principle of non-stealing.

It is quite clear that if we follow the theory of honesty in our life, in our culture as well as in our practical life, we shall prevent all kinds of obstructions i.e., mental, physical etc. So we need to practice the theory of honesty.

#### **(4) Celibacy (Brahmacarya):**

Celibacy means to exercise control over senses (including mind) from indulgence in their respective subjects. The basic intent of this vow is to conquer passions (kaṣāya) like - anger (krodha), pride (māna), deceit (māya) and greed (lobha), thus preventing wastage of energy in the direction of pleasurable desires. During observance of this vow, the householder must not have a sensual relationship with anybody other than one's own spouse. Jain monks and nuns practice complete abstinence from any sexual activity.<sup>22</sup> We have just seen that non-violence can be practiced on a large scale only in an cordial environment no longer permeated by force. But the inner core of morality is something beyond external control. The attitude has to grow from within. Social life is founded, in ultimate analysis, in self-control. That is the implication of the fourth *anuvrata Brahmacarya* in the wider sense. We characterised celibacy in four parts which is necessary for better understanding and result. These are--character, sublimation, discipline and self-control. In Jain *āgamas* above four mentioned parts are very clearly discussed.

#### **(5) Non-Possession (Aparigraha):**

The discipline (saṁnyama) comprehended by forth *anuvrata* leads logically to fifth and last of the *anuvratas*. It is called *aparigraha* and in its very implication is original to Jainism. It really denotes a certain self-restraint over the cause of pleasure, a certain stoicism before temptation, a certain detachment from superfluties and superabundance. In expounding its implications, ethical doctrines emphasised that one should not feel too much attachment towards

his own material possessions and should resist all temptations. One may keep wealth and commodities to satisfy one's requirements but should not engross oneself in the pursuit of material gain. At the same time, one should rise above prejudice, jealousies, greed, vanity, fear, hatred, susceptibility etc.<sup>23</sup> Economic inequality and vast difference in the mode of consumption are the two causes of our age. These disturb our social harmony and class-conflicts. Among the causes of economic inequality, the will for possession, occupation or hoarding is the prime. Accumulation of wealth on the one side and the lust of worldly enjoyment on the other are jointly responsible for the emergence of present day materialistic consumer culture. These problems can be solved by practicing the fifth minor vow *aparigrahāṇuvrata* or by limiting our possessions and attachment to those possessions.

The *āṇuvratas* are of course closely parallel to the five *mahāvratas* (meant especially for monks); and it is therefore not surprising that some writers have imitated the *Daśavaikālika-sūtra* which counts *a-rātri-bhojana* as sixth *mahāvrata*, that of *a-rātri-bhojana*- in the *āṇuvratas*. In fact this sixth *āṇuvrata* is noted by Cāmuṇḍarāya<sup>24</sup> So *Rātribhojana-tyāga* can be taken as 6<sup>th</sup> *āṇuvrata* which is equally important.

Samantabhadra<sup>25</sup> defines abstention from *rātri-bhojana* as the abandonment of the fourfold ailments by night out of compassion for living beings. The simple logic behind this *vrata* was that at night almost anything- small insects (*ṭini caturindriya-jīvas*) like moths, snakes, mice, bits of bones, skin, or hairs- may fall into the platter which ultimately cause diseases. This also shows the Jain *ācārya*'s concern over the health of human being and solution thereof by suggesting to avoid night meal.

Thus, if the *āṇuvratas* were practised properly, it would prevent that ruthless and lustful competition for wealth and empire which is the bane of the present age. When we observe and follow the theory of *pañca-āṇuvratas*, then we know co-operation among living beings

which is the major factor of world peace. In Jain *āgamas* everywhere we find the thought of mutual co-operation. They maintain that it is not the struggle but the co-operation that is the law of life. *Tattvārthasūtra* by Umāsvāti (4<sup>th</sup> cent.A.D.), clearly mentions that mutual co-operation is the nature of living beings <sup>26</sup> i.e., all the living beings are associated with each other. Jain tradition proclaims that co-operation and co-existence are the essential nature of living beings. Non-possession, non-absolutism and non-violence these are the core of Jain doctrine. Through the right faith in above mentioned *anuvratas* one discerns the nature of body and soul, and this awareness produces an attitude of detachment and non-possession. Right knowledge frees one from absolutism and enables one to see the things with a liberal and open mindedness. The discovery of the oneness of all living beings leads to non-violent conduct. The centrality of *Ahimsā* as well as *pañca-anuvratas* to Jain ethics makes it truly global and practitioners world citizens.

### References:

1. *Yajurveda*, 36/17
2. Jain, Sagar Mal, article : Role of Religion in Unity of Mankind and World Peace, *Jain Dharma-Darśana evaṃ Saṃskṛti*, Vol. 7, PV, Varanasi, p. 151
3. David, C.V., *The Voice of Humanity*, Mankind depot, Ujjain, p.1
4. *Dharmadrūm*, Rajendra Prasad Pandey, Kishor Vidya Niketana, Bhadaini, Varanasi, 1980, p. 1
5. *Vaiśeṣika Sūtra*, 1.1.2
6. G. MacGregor, *Introduction to Religious Philosophy*, (Introduction)
7. *Mahābhārata*, *Śāntiparva*, 109/9-11
8. Vide, *Tolerance in Jain Religion : Through the Ages*, Dr. Ashok Kumar Singh, *Śramaṇa*, Oct-Dec.2011, PV, p.95
9. *Himsā rahitā ahimsā-Vācaspatyaṃ*, vol-1, p.582
10. Jain, Dr. Kamla, *The Concept of Pañcaśīla in Indian Thought*, PVRI, Varanasi, 1983, p.38
11. *Ācārāṅgasūtra*, op. chit., 1/4/1
12. *Ācārāṅgasūtra*, First lesson, *Piṇḍaiṣaṇā*, Madhukar Muni, Agam Prakashan Samiti, Beawar (Raj.), 1980



68 : Śramaṇa, Vol 63, No. 3, July-Sep. 2012

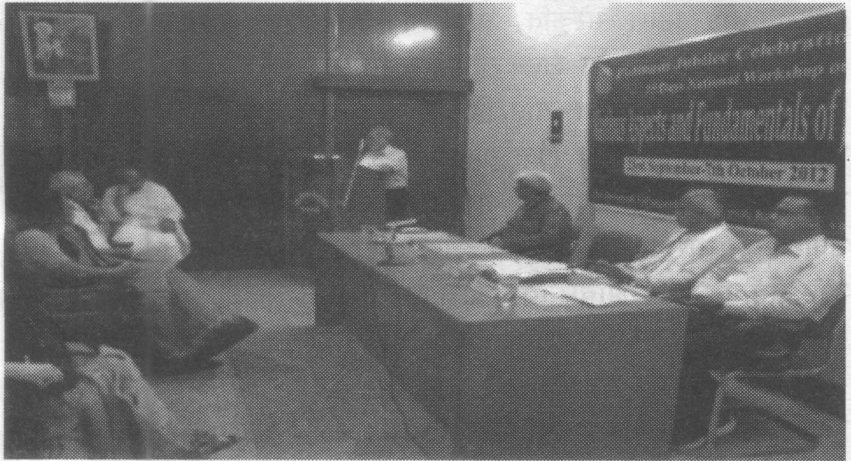
13. *Jam jassa viṇāsakāraṇaṃ taṃ tassasatthaṃ bhaṇṇati, Niśītha Curṇi*, 301, vide *Abhidhānrājendrakōśa*, vol.7, p.33
14. *Puruṣārthasiddhyupāya*, Amṛtacandra Sūri, V.44
15. *Sarvārthasiddhi*, Pūjyapāda, VII/13
16. *Tattvārtharājavārtika*, Akalaṅka, VII/13
17. *Saccaṃ loḡammi sārabhūyaṃ, gambhirataraṃ mahāsamuddāo thiratarāṅga merupavvayoā- Praśnavyākaraṇa, Saṃvaradvāra*, 24
18. *Ācārāṅgasūtra*, 1/5/5
19. *Candramūrtivirivānadaṃ vardhayanti jagatraye svargibhirdhiyante mūrdhnākīrthiḥ satyotthita nṛṇāṃ, Jñāṇava*, 1.9.29
20. *Jñāna cāritryamūlaṃ, satyamevavadanti ye, dhātrpavtryate teṣāṃ caraṇaṃreṇubhiḥ, Yogaśāstra* 2.63
21. Prasad, Beni, *World Problems and Jaina Ethics*, Jaina Sanskriti Sansthana Manadala, Varanasi 1951, p. 12.
22. S. Gopalan, *Outlines of Jainism*, p. 163-164, [http:// en.wikipedia.org/wiki/Jainism#Main\\_principles](http://en.wikipedia.org/wiki/Jainism#Main_principles) p.12
23. Prasad, Beni, *World Problems and Jaina Ethics*, Jaina Sanskriti Sansthana Mandala, Varanasi 1951, p. 19.
24. Cāmuṇḍarāya, *Cāritrasāra*, Manikchand Digambara Jain Granthapmala, Ratlam, 1929, p. 7
25. Samantabhadra, *Ratnakaraṇḍa-śrāvākācāra*, V.21
26. *Parasparopagrahojivānām, Tattvārthasūtra, Umāsvāti*, V.21

\*\*\*

## पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

1. 'जैन विद्या के विविध आयाम एवं उसके मौलिक सिद्धान्त' विषयक 15 दिवसीय राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन (23 सितम्बर से 7 अक्टूबर 2012 तक)

दिनांक 23 सितंबर 2012 को 15 दिवसीय 'जैन विद्या के विविध आयाम एवं उसके मौलिक सिद्धान्त' विषयक राष्ट्रीय कार्यशाला का उद्घाटन सम्पन्न हुआ। मुख्य अतिथि के रूप में जैन एवं बौद्ध दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डॉ. अशोक कुमार जैन ने कहा कि जैन दर्शन विश्व शांति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। उन्होंने जैन दर्शन के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित किया और कार्यशाला की सफलता की कामना की। दिल्ली से पधारे डॉ. शुगन चन्द जैन, अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने अतिथियों का स्वागत करते हुए कार्यशाला का विषय प्रवर्तन किया तथा कार्यशाला की महत्ता पर प्रकाश डाला।



डॉ. नवीन कुमार श्रीवास्तव, कार्यशाला संयोजक ने कार्यशाला के नियमों एवं पन्द्रह दिनों तक चलने वाले कार्यक्रमों पर सविस्तर प्रकाश डाला। संस्था के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय ने धन्यवाद ज्ञापित किया तथा संचालन संस्था के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ. अशोक कुमार सिंह ने किया।

इस कार्यशाला में दिये गए व्याख्यान विद्वानों के नाम और विषय सहित इस प्रकार हैं -

**प० पू० प्रशमरति विजयजी महाराज जी (वाराणसी)** -जैन श्रावकों के कर्त्तव्य, जैन साहित्यकारों का 20वीं सदी में संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में योगदान एवं जैन पर्व एवं त्योहार, **डॉ० शुगन चन्द जैन (नई दिल्ली)**-जैन साहित्य, महावीर कालीन इतिहास, महावीरोत्तरकालीन इतिहास एवं जैन श्रावकाचार, **प्र० अरविन्द कुमार राय (वाराणसी)** -भारतीय संस्कृति एवं दर्शन की विशेषताएँ, **प्र० मारुति नन्दन तिवारी (वाराणसी)**- जैन कला एवं जैन प्रतिमा विज्ञान, **डॉ० अशोक कुमार जैन (वाराणसी)**-जैन दर्शन में अनेकान्तवाद, जैन धर्म में गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणा एवं श्रमणाचार, **प्र० हरिहर सिंह (वाराणसी)** -जैन स्थापत्य एवं गुफाएँ, **प्र० प्रभुनाथ द्विवेदी (वाराणसी)**-प्रमुख जैन कथा एवं काव्य सहित्य, **डॉ० अशोक कुमार सिंह (वाराणसी)** -जैनागम साहित्य, जैन धर्म और धार्मिक सहिष्णुता एवं जैन दार्शनिक साहित्य का अवदान, **डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय (वाराणसी)**-जैन योग, कर्म सिद्धान्त, लेश्या सिद्धान्त तथा स्याद्वाद एवं सप्तभंगी नय, **प्र० सीताराम दूबे (वाराणसी)**-श्रमण संस्कृति, **प्र० महेश्वरी प्रसाद (वाराणसी)** -जैन अभिलेख, **प्र० सुदर्शन लाल जैन (वाराणसी)** -तप की अवधारणा एवं संल्लेखना की अवधारणा, **डॉ० झिनकू यादव (वाराणसी)** -जैन सम्प्रदाय, **डॉ० अरुण प्रताप सिंह (वाराणसी)** -जैन कुलकर एवं तीर्थंकर परम्परा, **डॉ० सुमन जैन (वाराणसी)**- पाण्डुलिपियों का सामान्य परिचय, **डॉ० जयन्त उपाध्याय (वाराणसी)** -भारतीय दर्शन में ज्ञान की अवधारणा एवं प्रामाण्यवाद, **डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव (वाराणसी)** -जैन ज्ञानमीमांसा, जैन दर्शन में आत्मा की अवधारणा एवं अहिंसा विचार, **डॉ० राहुल कुमार सिंह (वाराणसी)** -जैन सप्त तत्त्व एवं नव तत्त्व की अवधारणा, जैन प्रमाणमीमांसा एवं जैन द्रव्य विचार तथा **श्री ओम प्रकाश सिंह (वाराणसी)** -जैन कोश साहित्य।

इस कार्यशाला में 31 छात्र-छात्राओं ने जैन धर्म-दर्शन के विभिन्न विषयों पर पत्रों का वाचन किया तथा कार्यशाला के अंतिम दिन संस्था द्वारा आयोजित प्रश्नोत्तरी का आयोजन किया गया। इस प्रश्नोत्तरी में कुल 7 टीमों ने भाग लिया। प्रश्नोत्तरी अत्यन्त रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक थी। परिणाम के रूप में तीन टीमों को क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय विजेताओं के रूप में घोषित किया गया।

दिनांक 7 अक्टूबर 2012 को इस पन्द्रह दिवसीय कार्यशाला का समापन समारोह सम्पन्न हुआ। पाश्र्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने अतिथियों का स्वागत किया। कार्यशाला संयोजक डॉ० नवीन कुमार श्रीवास्तव ने कार्यवाही सारांशिका प्रस्तुत करते हुए कार्यशाला में दिये गये व्याख्यानों के मुख्य बिन्दुओं को रेखांकित किया। डॉ. राहुल कुमार सिंह ने प्रश्नोत्तरी की भूमिका पर प्रकाश डाला। मुख्य अतिथि एवं अध्यक्ष के द्वारा प्रतिभागियों को प्रमाण पत्र एवं पत्र वाचन तथा प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता के विजेताओं को पुरस्कार एवं प्रमाण पत्र प्रदान किया गया।



मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी, एमिरेटस प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने कहा कि विदेशों में संस्कृत का ज्ञान अठारहवीं शताब्दी में हुआ। परिणामस्वरूप शोध एवं अध्ययन के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ। संस्कृत के ज्ञान के कारण तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक साहित्य, तुलनात्मक धर्म-दर्शन एवं तुलनात्मक पौराणिक कथाओं का अध्ययन विद्वानों द्वारा आरम्भ हुआ। भारतीय संस्कृति के किसी भी क्षेत्र में गम्भीर अध्ययन हेतु संस्कृत के साथ प्राकृत, पालि, अपभ्रंश का ज्ञान होना आवश्यक है। आज तक मूल ग्रन्थों के सम्पादन, अनुवाद और शोध पर जितना कार्य हुआ है उससे अधिक कार्य करने को आवश्यकता है। उन्होंने युवा पीढ़ी से प्राच्य भाषाओं को सीखने का आह्वान किया। धर्म-दर्शन के अध्ययन का

72 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 3 / जुलाई-सितम्बर 2012

लक्ष्य सूचनात्मक ज्ञान नहीं अपितु धर्म-दर्शन के अन्दर प्रवेश कर जीवन में उसको अंगीकार करना करना है। डॉ. अशोक कुमार सिंह ने कार्यक्रम का संचालन तथा श्री ओम प्रकाश सिंह ने धन्यवाद-ज्ञापित किया।

## 2. प्रो० सुदर्शन लाल जैन को राष्ट्रपति सम्मान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष तथा कला संकाय प्रमुख एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन को उनके द्वारा प्राकृत, जैनविद्या तथा संस्कृत भाषा में किए गए उल्लेखनीय अवदान हेतु महामहिम राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित करने की घोषणा की गई है यह हम सब के लिए गौरव की बात है ।

आप श्रुतसंवर्धनी आदि पुरस्कारों से भी सम्मानित हैं। सन् 2004 तथा 2009 में आपने अमेरिका के मील-पिटस में जैन विद्या के विविध विषयों पर कई व्याख्यान दिए। आपके उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान से कई ग्रन्थ पुरस्कृत भी हुए हैं। इस विशिष्ट उपलब्धि हेतु आपको पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की ओर से बधाई ।

## 3. प्रो० महेश्वरी प्रसाद नेशनल प्रोफेसर पद से सम्मानित

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व निदेशक, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् प्रो० महेश्वरी प्रसाद को संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार के अन्तर्गत भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा नेशनल प्रोफेसर पद से सम्मानित किया गया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ अपने पूर्व निदेशक को प्राप्त इस गौरवपूर्ण उपलब्धि पर गौरवान्वित है। प्रो० प्रसाद को पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की तरफ से हार्दिक बधाई।

## 4. नियुक्ति

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में डॉ. रुचि राय की शोध-सहायक (श्रमण)के रूप में नई नियुक्ति हुई है। डॉ. रुचि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में पी-एच.डी. हैं। आपने 'डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् के दर्शन में परमतत्त्व का विचार' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर शोध किया है।

\*\*\*\*

## जैन जगत्

### 1. डॉ० रजनीश शुक्ला वादरायण व्यास राष्ट्रपति सम्मान 2012 हेतु चयनित

वर्तमान में राष्ट्रीय संस्कृति संस्थान, नई दिल्ली के विकास अधिकारी (पालि-प्राकृत) डॉ० रजनीश शुक्ला को संस्कृत, पालि एवं प्राकृत के विशेष तुलनात्मक अध्ययन हेतु वादरायण व्यास राष्ट्रपति सम्मान 2012 के लिए चयनित किया गया है। डॉ० शुक्ला संस्कृत, प्राकृत के विशिष्ट विद्वान् हैं। आप इसके पूर्व, उदयपुर विश्वविद्यालय, श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा तथा वीरसेवा मन्दिर में भी अपनी सेवाएं दे चुके हैं। डॉ० शुक्ला को इस विशेष सम्मान हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से हार्दिक बधाई ।

### 2. FORBES: A LEADING MAGAZINE IN USA PUBLISHES AN INTERVIEW WITH GURUDEV CHITRABHANU JI, A JAIN LEADER

September 2012, USA, **Forbes**, a very prestigious and leading magazine of USA publishes an interviews with Acharya Shri Chitrabhanuji. Dr. Michael Tobias (of Forbes on Line) recorded the Green Conversation with Gurudev Shri Chitrabhanuji, "A Jain Leader Addresses the World." This interview, with one of the spiritual leaders and advocates of non-violence, tolerance and compassion, affords enlightening insights into how our personal choices resonate in a troubled world. The ecological interdependency of all living beings is foremost among these teachings- Dr. Michael Tobias talked with Pujya Chitrabhanuji on the subjects like Jainas contribution to hurting, unemployed, desperates; concept of "minimizing violence; Jain economics; Jaina Lifestyle; Jain precepts for community life especially with "sustainability" in mind and Mahavira's message for tumultuous 21st century. It is very rare that any interviews or articles related to Jainism have been published in any leading magazine. Those who are interested to read the interview can contact to Dr. Sulekh Jain on his email ID : [scjain@earthlink.net](mailto:scjain@earthlink.net).

पुस्तक समीक्षा

**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ( मङ्गलाटीका ) अनुशीलन-** मङ्गलाटीकाकार एवं दोहानुवाद-मुनिश्री प्रणम्यसागरजी, सम्पा. डा. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती', श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन पंचायत सभा, घंसौर (जिला- सिवनी), मध्य प्रदेश, 2012, सजिल्द पृष्ठ सं. 158, मूल्य 60 रुपये मात्र।

पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के सुयोग्य शिष्य पूज्य मुनिश्री प्रणम्यसागर जी ने कई मूलकृतियों का हिन्दी अनुवाद एवं उन पर विद्वत्तापूर्ण संस्कृत टीकाओं की रचना की है। अमृतचन्द्रसूरि कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पर मुनिश्री प्रणम्यसागर जी ने मङ्गला शीर्षक संस्कृत टीका की रचना की है। प्रस्तुत प्रकाशित कृति 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (मङ्गलाटीका) अनुशीलन' मङ्गलाटीका पर 8-9 नवम्बर, 2011 को मध्यप्रदेश के सिवनी जनपद में आयोजित द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत लेखों का संकलन है। इसमें डा. रमेश चन्द जैन (बिजनौर), डा. नरेन्द्र कुमार जैन (सनावद), डा. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती' (बुरहानपुर), डा. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' (दिल्ली), डा. जयकुमार जैन (मुजफ्फरनगर), डा. अशोक कुमार जैन (का. हि. वि. वि., वाराणसी) आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत लेख संकलित हैं। किसी एक कृति के विभिन्न पक्षों पर आयोजित संगोष्ठी उसमें प्रतिपादित विषयों के गम्भीर विवेचन का सम्यक् अवसर उपस्थित करती है। विद्वानों द्वारा प्रस्तुत लेख पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में प्रतिपादित आचार, दर्शन के साथ टीका के भाषात्मक एवं काव्यशास्त्रीय पक्षों पर भी गम्भीर एवं विस्तृत प्रकाश डालते हैं। इस दृष्टि से यह कृति संग्रहणीय है।

डॉ. अशोक कुमार सिंह

**भारतीय तत्त्वज्ञान तर्कहस्यदीपिका** - टीकाकार गुणरत्नसूरि, टीकानुवाद (गुजराती), डॉ. नगीन जे. शाह, श्री नेमि-विज्ञान-कस्तूरसूरि ग्रंथ श्रेणि सं. 28, श्री 108, जैन तीर्थदर्शन भवन ट्रस्ट (श्री समवसरण महामन्दिर), पालिताना-अहमदाबाद- मुम्बई, सजिल्द पृ. 78, मूल्य 984 रुपये मात्र।

महत्तरा याकिनी सूनू आचार्य हरिभद्र द्वारा विरचित सर्वदर्शन संग्राहक संस्कृत श्लोकबद्ध कृति षड्दर्शनसमुच्चय एक अत्यन्त विशिष्ट कृति है। इस पर

गुणरत्नसूरि (14वीं शताब्दी) कृत तर्करहस्यदीपिका के अतिरिक्त सोगतिलकसूरि (1298-1367 ई.), वाचक उदयसागर कृत अवचूरि, वृद्धिविजय (1663ई.) रचित विवरण, ब्रह्मशान्तिदास (1828ई.) कृत अवचूर्णि और चारित्रसिंहगणि रचित वृत्ति उपलब्ध है। इसका हिन्दी, गुजराती के अतिरिक्त इटालियन और अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक में अनुवादक डॉ. नगीन जे. शाह ने तर्करहस्यदीपिका का गुजराती अनुवाद किया है। साथ ही भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण में प्राप्त प्रस्तावना में भारतीय दर्शनों की संख्या, उनका संक्षिप्त परिचय, ग्रीक और भारतीय चिन्तन का सम्बन्ध, जैन विद्या के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रमुख यूरोपीय एवं अमेरिकी विद्वानों एवं उनके कार्यों का संक्षिप्त परिचय जोड़कर इसे महत्त्वपूर्ण बनाया गया है।

परिशिष्ट में पूर्व उपलब्ध परिशिष्टों में दो अन्य संस्कृत टीकाओं के मूल को हटा दिया गया है। परिशिष्ट में अनुवादगत विशिष्ट शब्दों की सूची नई जोड़ी गई है।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है।

डॉ. अशोक कुमार सिंह

\*\*\*



## साभार प्राप्ति

पार्श्वनाथ विद्यापीठ को निम्न पुस्तकें साभार प्राप्त हुईं—  
द्वारा—मुनि प्रशमरति विजयजी महाराज साहब

1. जिन ! तेरे चरण की शरण ग्रहः, रचयिता — पू. मुनि श्री रामचंद्र जी म. सा., संकलन — मुनि श्री पुण्यरत्नचंद्र जी म. सा., प्रकाशक— द्रव्य सहयोगी दाता, मूल्य— 15 रुपये मात्र।
2. चतुर्विंशति चैत्यवंदना, सम्पादिका—साध्वीश्री महायशाश्रीजी म., प्रकाशक — श्रीआदीश्वर श्वे. मू. जैन संघ श्रीनगर, गोरगांव — मुम्बई, मूल्य— 125 रुपये मात्र।
3. ऋषिदत्ताचरित्रसंग्रहः, सम्पादिका —साध्वी चन्दनबालाश्री, प्रकाशक— भद्रंकर प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य—400 रुपये मात्र।
4. दीपालिकाकल्पसंग्रहः — नवीनसंस्करण, सम्पादिका—साध्वी चन्दनबालाश्री, प्रकाशक—भद्रंकर प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य—250 रुपये मात्र।
5. ध्यानशतकम् ( भाग 1-2 ), सम्पादकाः संशोधकाश्च — पूज्यपादाचार्य श्रीमद्विजयकीर्तियशसूरीश्वरा प्रकाशक—सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य—(250 + 250)रुपये मात्र।
6. षड्दर्शनम् समुदाय ( भाग 1-2 ) भाषानुवादक, सम्पादक— पू. मुनि श्री संयमकीर्तिविजयजी महाराज साहब, प्रकाशक—सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य—(200+155) रुपये मात्र।
7. श्रीमद् भगवतीसूत्रम् ( व्याख्याप्रज्ञप्तिः ) ( भाग 1-4 ), सम्पादक — प. पू. आचार्यदेव श्रीमद्विजय कुलचंद्रसूरीश्वरजी महाराज, प्रकाशक— श्री पाश्वर्क—प्रेम श्वे. मू. पु. जैन संघ, 90, फीट रोड, भाईदर (पश्चिम), जिला—थाणा (महाराष्ट्र) मूल्य—85 रुपये मात्र।
8. श्रीसिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासनम् ( भाग - 6 ), सम्पादक — प. पूज्याचार्य देवेश श्री—विजयनेमिसूरी श्वरपट्टालङ्कार, प्रकाशक — श्रीसिद्धहेम—प्रकाशन—समितिः, मूल्य—40 रुपये मात्र।
9. श्रीआतुरप्रत्याखानप्रकीर्णकम्, सम्पादक— पू. आ. श्रीमद्विजयकीर्ति यशसूरीश्वराः, प्रकाशक—सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद। मूल्य—175 रुपये मात्र।

10. आचारप्रदीपः, सम्पादक-पू. पा. मुनिप्रवर श्री जगत्दर्शनविजयाः,  
प्रकाशक -सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-100 रुपये मात्र।
11. उत्तराध्ययनसूत्रम्, सम्पादक -पू. मुनिराजश्रीमतिरत्नविजयाः,  
प्रकाशक- सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-300 रुपये मात्र।
12. श्रीआवश्यकनिर्युक्तिः ( भाग 1-2 ), सम्पादक-पू. मुनिराज श्रीपुण्य-  
कीर्तिविजयाः, प्रकाशक-सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-150 रुपये  
मात्र।
13. श्रीनवस्मरण अने श्री गौतमस्वामीनो रास., सम्पादक- पू. आ.  
श्रीमद्विजयकीर्तियशसूरीश्वरजी महाराज, प्रकाशक-सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद,  
मूल्य-110 रुपये मात्र।
14. श्रीश्रीपालचरीत्रम्, सम्पादक- पू. श्रीमद्विजयकीर्तियशसूरीश्वरजी महाराज  
प्रकाशक- सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद । मूल्य-3.95 रुपये मात्र।
15. आगम श्रीकल्पसूत्रसुबोधिका, सम्पादक- पू. आ. श्रीमद्विजयकीर्तियशसूरी  
श्वरजी महाराज, प्रकाशक- सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-600 रुपये  
मात्र।
16. दिपोत्सवकल्पः - सम्पादक - प. पू. मुनिराजश्रीकीर्तियशविजयगणिवरः,  
प्रकाशक - सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-50 रुपये मात्र।
17. सूत्रव्याख्यान विधिशतकम्, सम्पादक- पू. मुनिराजश्रीपुण्य कीर्तिविजयाः,  
प्रकाशक-सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-50 रुपये मात्र।
18. जीवन-साफल्य-दर्शनम् ( भाग -1 ) -  
प्रवाचकाः-विजयरामचन्द्रसूरी श्वराः, प्रकाशक-सन्मार्ग प्रकाशन,  
अहमदाबाद, मूल्य-50 रुपये मात्र।
19. हितोपदेशः, सम्पादकः पू. पा. आ. श्रीमद्विजयकीर्तियशसूरीश्वराः,  
प्रकाशक-सन्मार्गप्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-85 रुपये मात्र।
20. धर्मसंग्रहः ( भाग 1-2 ), सम्पादिका -साध्वी चन्दनबालाश्री, प्रकाशक  
- भद्रंकर प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-750 रुपये मात्र।
21. योगविंशिका प्रकरणम् , सम्पादक पू. पा. आ. श्रीमद्विजयकीर्तियश  
सूरीश्वराः, प्रकाशक -सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-90 रुपये मात्र।
22. श्रीचतुःशरणप्रकीर्णकम्, सम्पादक पू. पा. आ. श्रीमद्विजयकीर्तियश  
सूरीश्वराः, प्रकाशक-सन्मार्ग प्रकाशन अहमदाबाद, मूल्य-200 रुपये मात्र।

78 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 3 / जुलाई-सितम्बर 2012

23. **विनयसूत्र** – सम्पादक – श्री जिनविजय मुनि, प्रकाशक –श्री जमणपुर जैन श्वे. मू. जैन संघ, गुजरात, मूल्य-8.80 रुपये मात्र।

24. **श्री नेमिदूतम्**, सम्पादक पू. मुनिश्रीपुण्यकीर्तिविजयाः, प्रकाशक-सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य-50 रुपये मात्र।

25. **सिद्धलोक एवं सिद्धत्व साधना के सूत्र**, लेखक-डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, प्रकाशक- श्री अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट, मूल्य-10 रुपये मात्र।

26- **ĀTMĀ (The self)**, Muni Sri Punyadarshana Vijayji , Publisher Sanmarg Prakashan, Ahmedabad, Rs. 25/- Only.

27- **Jainism : A Glimps**, Muni Sri Punyadarshana Vijayji, Publisher- Sanmarg Prakashan, Ahmedabad. Rs. 20/- Only.

\*\*\*\*

## विद्वानों से निवेदन

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आपकी प्रतिष्ठित त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'श्रमण' (सन् 1949 से प्रारम्भ) अपनी गुणवत्तापूर्ण सामग्री एवं समयानुकूल प्रकाशन के कारण विद्वत् समुदाय द्वारा जैन विद्या के शीर्ष पत्रिकाओं में परिगणित की जाने लगी है, जिसका प्रमाण है पाठकों की टिप्पणियाँ एवं मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स द्वारा प्रकाशित समाचार पत्रों में जैन विद्या के प्रमुख लेखों के स्तम्भ में श्रमण में प्रकाशित लेखों के नाम का बाहुल्य। भविष्य में इसके प्रभाव एवं शोधसामग्री के वर्धन हेतु 2013 में इसके प्रत्येक अंक को अब विषय-विशेष पर आधारित (Particular Theme based) करने का निर्णय प्रकाशन मण्डल द्वारा लिया गया है। ये चार अंक और उनसे सम्बन्धित विषय निम्न हैं-

क्र०सं० अंक

विषय

- |                        |   |
|------------------------|---|
| 1. जनवरी-मार्च, 13     | जैन इतिहास, संस्कृति, कला एवं स्थापत्य                    |
| 2. अप्रैल-जून, 13      | जैन आगम एवं दर्शन   |
| 3. जुलाई-सितम्बर, 13   | जैन-नीतिशास्त्र एवं कर्म-सिद्धान्त                        |
| 4. अक्टूबर-दिसम्बर, 13 | जैन-धर्मदर्शन एवं इसके सिद्धान्तों की वर्तमान प्रासंगिकता |

एतदर्थ विद्वज्जनों से अनुरोध है कि आप उपरोक्त विषयों में से किसी भी विषय पर अपने शोधलेख (हिन्दी या अंग्रेजी) में भेज कर हमारे इस कार्य को गति प्रदान करें। इस क्रम में नवीन शोधलेखों के साथ-साथ पूर्व प्रकाशित लेखों के सन्दर्भ में आपकी निष्पक्ष टिप्पणियाँ भी आमन्त्रित हैं जिन्हें आगामी अंकों में, 'पाठकों की दृष्टि में' नामक स्तम्भ में प्रकाशित किया जायेगा। अतः आपसे विनम्र निवेदन है कि अपने इस सहयोग को बनाये रखें एवं अपने सुझावों एवं सत्प्रयासों द्वारा हमें इस कार्य की पूर्णता के लिए सम्बल प्रदान करते रहें।

शोधपत्र प्रेषित करते समय कृपया निम्न तथ्यों पर विशेष ध्यान दें-

1. प्रथम अंक के लेख हमें 15-12-12 तक, द्वितीय अंक के लेख 15-03-13 तक, तृतीय अंक के लेख 15-06-13 तक और चतुर्थ अंक के लेख 15-09-13 तक हमें प्राप्त हो जायें।
2. लेखों के सन्दर्भ देते समय कृपया पुस्तक, लेखक, प्रकाशक, प्रकाशन-स्थल, संस्करण एवं वर्ष तथा पृष्ठ संख्या का अवश्य उल्लेख करें।
3. लेख के साथ एक घोषणा पत्र अवश्य संलग्न करें कि आपका यह लेख मौलिक है एवं अन्यत्र प्रकाशित नहीं है।

नोट :- आप अपने पत्र या टिप्पणियों की soft copies हमें [rahulsingh@pv-edu.in](mailto:rahulsingh@pv-edu.in) पर या [ruchirai@pv-edu.in](mailto:ruchirai@pv-edu.in) पर भेजने की कृपा करें।

## Appeal to the Distinguished Scholars

Your quarterly research journal, *Śramaṇa* is now being well received by the academic world for its quality content and regular publication. This is evident from the comments we receive from readers as well as MLBD News letter mentioning several times the articles published in *Śramaṇa* in the column 'Articles of Jainology'.

To enhance further the effectiveness and quality of research published, the Advisory Board of *Śramaṇa* has decided that in the year 2013, the four quarterly issues will be theme based as mentioned below:

Sl. No.	Issue	Topic
1	January-March, 2013	Jain History, Culture, Art & Architecture
2	April-June, 2013	Jain Agam & Philosophy
3	July-September, 2013	Jain Ethics & Karma doctrine
4.	October-December 2013	Contemporary Relevance of Jain Principles

We invite your scholarly research papers (in Hindi or English) in any of the above areas of academic pursuit to make these four publications successful.

We also invite your frequent comments about the articles published in *Śramaṇa* so that these comments could be published under column Reader's view of the journal to make it more perfect. While sending your contributions, please note the following points:

1. The papers for, first issue could be sent latest by 15<sup>th</sup> December, 2012, second issue by 15<sup>th</sup> March, 2013, third issue by 15<sup>th</sup> June, 2013 and fourth issue by 15<sup>th</sup> Sept.13.
2. Regarding the references please quote the book, author, publisher, edition, publication year and page numbers.
3. Please attach a declaration that the paper sent by you is your own original contribution and unpublished.

PS: Please send soft copies of your papers at our e-mail IDs:  
***rahulsingh@pv-edu.in*** or ***ruchirai@pv-edu.in***



## OUR IMPORTANT PUBLICATIONS

- |   |                      |
|---|----------------------|
| 1. Prakrit - Hindi Kośa<br>Edited by Dr. K.R. Chandra   | ₹ 1200.00            |
| 2. Encyclopaedia of Jaina Studies<br>Vol. I (Art & Architecture)                                | ₹ 4000.00, \$ 100.00 |
| 3. Jain Kumār Sambhavam<br>Dr. Neelam Rani Shrivastava  | ₹ 300.00             |
| 4. Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I -Vol. VII,  | ₹ 1430.00            |
| 5. Hindī Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I -Vol. III<br>Dr. Shitikanth Mishra              | ₹ 1270.00            |
| 6. Jaina Pratimā Vijñāna<br>Prof. M.N.P. Tiwari   | ₹ 300.00             |
| 7. Jaina Dharma Darśana<br>Dr. Mohanlal Mehta   | ₹ 200.00             |
| 8. Sthānakavāsi Jaina Paramparā Kā Itihāsa<br>Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar                 | ₹ 500.00             |
| 9. Studies in Jaina Philosophy<br>Dr. Nathmal Tatia   | ₹ 200.00             |
| 10. Theory of Reality in Jaina Philosophy<br>Dr. J. C. Sikdar                                   | ₹ 300.00             |
| 11. Doctrine of Karma in Jaina Philosophy<br>H.V. Glasenapp                                     | ₹ 150.00             |
| 12. Jainism: The Oldest Living Religion<br>Dr. Jyoti Prasad Jain                                | ₹ 40.00              |
| 13. Scientific Contents in Prakrit Canons<br>Dr. N. L. Jain                                     | ₹ 400.00             |
| 14. Pearls of Jaina Wisdom<br>Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey                        | ₹ 120.00             |
| 15. Studies in Jaina Art<br>Dr. U.P. Shah   | ₹ 300.00             |
| 16. Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I<br>Editor : Dr. S. P. Pandey                  | ₹ 500. \$ 40-00      |
| 17. Jainism in a Global Perspective<br>Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey                 | ₹ 400.00. \$ 19.00   |
| 18. Multi-dimensional Application of Anekāntavāda<br>Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey   | ₹ 500.00, \$ 20.00   |
| 19. Advanced Glossary of Jaina Terms<br>Dr. N. L. Jain  | ₹ 300.00             |
| 20. Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Pariśilana (Gujrati)<br>Dr. S. L. Jain & Trans. A. Santilal Joshi | ₹ 300.00             |
| 21. Jains Today in the World<br>Pierre Paul Amiel   | ₹ 500.00             |
| 22. Kaṣāyapāhuḍa (Chapters on Passion)<br>Dr. N. L. Jain  | ₹ 300.00             |
| 23. Jaina Karmagrantha Part -I-V (Pt. Sukhlal Sanghvi)  | ₹ 400.00             |